प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक की कई कृतियां हिन्दी के पाठकों को सुलभ हो चुकी हैं। उपन्यासों तथा कहानियों के अतिरिक्त उनके लघु निबंधों का एक संग्रह 'कहिए समय विचारि' 'मण्डल' से प्रकाशित हुआ है। उसमें लेखक ने उन विषयों को लिया है, जो जीवन के निर्माण में सहायक होते हैं और उन्होंने अपनी बात बड़े सरल-सुबोध ढंग से कही है।

पर उनका यह संग्रह उससे कुछ भिन्न है। इसमें उन्होंने जीवन के अधिक गंभीर प्रश्नों को लिया है और उनके समाधान की खोज में गहराई से चिन्तन किया है। फलतः यह पुस्तक भाव और भाषा की दृष्टि से कुछ गूढ़ बन गई है और मनोयोगपूर्वक पढ़े जाने की अपेक्षा रखती है।

इन निबंधों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें पुरातन तथा नूतन परम्पराओं और मान्यताओं का निषेध नहीं किया गया है, बल्कि उन्हें विवेक की कसौटी पर कसकर देखने-परखने की प्रेरणा दी गई है। जो भी उसपर खरा उतरता है, उसे स्वीकार करने पर लेखक ने बल दिया है। इसके साथ ही लेखक की यह भी इच्छा रही है कि पुरातन और नूतन का समन्वय हो।

वस्तुतः आज की यह बहुत बड़ी समस्या है, क्योंकि पुराने और नये के बीच मेल साधना आसान नहीं है। नई पीढ़ी के लिए तो यह और भी कठिन है; क्योंकि उसका मानस और परिवेश कुछ दूसरा ही है। उसे जीवन की चुनौती देने वाले प्रश्नों का अधिक गंभीरता से अध्ययन करना है, कारण कि उसी के कंधों पर भावी भारत के अभ्युदय का दायित्व है।

हिन्दी में निबंध बहुत लिखे गये हैं, लेकिन गूढ़ विषयों पर लघु निबंध आज भी कम पाये जाते हैं। इस दृष्टि से यह संग्रह हिन्दी साहित्य के एक अभाव की आंशिक पूर्ति करता है।

तीसरा संस्करण

हर्ष है कि पुस्तक का तीसरा संस्करण पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है। इसमें कई नये निबंध जोड़ दिये गए हैं और कुछ निकाल दिये गए हैं।

हमें विश्वास है कि इसके विचारों से अधिकाधिक पाठक लाभ लेंगे और हमें शीघ्र ही इसका अगला संस्करण करना पड़ेगा।

—मंत्री

प्राक्कथन

भारत ने बत्तीस वर्ष पूर्व स्वाधीनता प्राप्त की। हमने सम्पन्नता के, सुख और समृद्धि के, सपने देखे। विश्व-युद्ध समाप्त हुआ ही था, युद्ध के दौरान जिन विशेष समस्याओं तथा अवसरों ने अपनी अगणित शाखा-प्रशाखाओं के साथ जन्म लिया, उन्होंने हमारे राष्ट्र के ध्यान को भी प्रमुख रूप से आकृष्ट किया। हमने एक मैत्रीपूर्ण विश्व की कल्पना की, जिसमें सभी परस्पर सहायक रहें; किन्तु आज हम जहां भी दृष्टि डालते हैं, विरोधाभास ही दीखता है।

आज हम दोष लगाते हैं कि समाज के मन का ढांचा विकृत हो गया है और कदाचित् उसने उसकी महान्-से-महान् परम्पराओं को भी दूषित कर दिया है।

पुराने जमाने में मानव के जीवन पर नियंत्रण करने के लिए कोई कानून नहीं थे। मनुष्य अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र था। लेकिन क्या वह ऐसा करता था ?

तब स्वनियंत्रण था। व्यक्ति को समाज का भय इसलिए नहीं था कि समाज उसे दण्ड देता, बल्कि वह समाज से नियंत्रित रहता था, क्योंकि वह अपने आत्म-सम्मान के लिए उन मान्यताओं का आदर करने के लिए बाध्य था।

कानून द्वारा लगाये गए विविध प्रतिबन्धों ने सबका एक बिल्ली-चूहे का खेल बना दिया है। मनुष्य केवल इतना ध्यान रखते हैं कि वे कानून के पंजे में न फंसें। जबतक पकड़े नहीं जाते, वे सुखी रहते हैं।

संविधान ने हमें चार स्वतंत्रताओं का आश्वासन दिया है। उनमें भाषण तथा विचार की स्वतंत्रता भी शामिल है, किन्तु विनम्र मतभेद के

स्वर को दबा-सा दिया जाता है। हमारे समाज को लोकतांत्रिक माना जाता है तथापि उसका राजनैतिक ढांचा लोकेच्छा के प्रति उदासीन है। जनता का एक बड़ा भाग अभाव में पल रहा है। सरकार में हमें सत्ता के संचय और उन लोगों से अलगाव के दर्शन होते हैं, जिनपर उनके निर्णयों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। हमारी कुछ राष्ट्रीय प्राथमिकताएं कदाचित् उलट गई हैं। हमारा अपने जीवन पर नियंत्रण नहीं रहा है।

हम क्रान्तिकारी नहीं हैं। हम ऐसा नहीं सोचते कि सभी पुरानी परम्पराओं और नैतिकताओं को तिलांजलि दे देनी चाहिए और न नये विचारों से ही हमें संकोच है। हम न तो किसी मत-विरोध के प्रति आग्रही हैं और न किसी के बहकावे में हैं। वर्षों से हम देखते आ रहे हैं कि घोषित उपलब्धियों की वास्तविकताओं से दूरी बढ़ती ही जा रही है, जिससे वर्तमान व्यवस्था में हमारा संशय बढ़ा है। केवल व्यावहारिक अनुभव से ही हम किसी निष्कर्ष पर पहुंचना चाहते हैं।

इसी उद्देश्य से मैंने आज की कुछ समस्याओं पर कुछ लिखने का साहस किया है। ऐसा हमारे जीवन पर प्रभाव डालने वाले कुछ तत्वों का विश्लेषण करने और उन्हें समझने की भावना से किया गया है। मेरा उद्देश्य अपने विचारों को भाषा देना मात्र है, जिससे हम सभी सोचें। हम सभी का मूल उद्देश्य एक ऐसे सम्मिलित समाज की रचना करना है, जिसमें हम अपनी-अपनी रुचियों के अनुसार काम करने को स्वतंत्र रहें।

—लक्ष्मीनिवास बिड़ला

प्रस्तावना

जब से मनुष्य में विचार करने की शक्ति आई, तब से ही जन्म और मृत्यु, सुख और दुःख की समस्याओं पर उसकी दृष्टि गई और इनके समाधान की खोज में वह पड़ा। संघटित मनुष्य-समाज और तथाकथित सभ्यता का कितना ही विकास क्यों न हुआ हो, इसमें सन्देह नहीं कि ये मूल प्रश्न बने ही रहे। सुख की ही अभिलाषा से मनुष्य कार्य करता है, पर प्रकृति का यही अभिशाप है कि वह उसे मिलता नहीं। साथ ही मनुष्य भी उसकी लालसा छोड़ता नहीं, उसीकी प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्न करता रहता है और जो कुछ हम अपने सामने देखते हैं, वह उसीका प्रतीक है।

पूर्वीय दार्शनिकों का मत है कि परलोक, अध्यात्म आदि की भावना मनुष्य के हृदय में कष्ट और मृत्यु के भय के कारण उत्पन्न हुई और इसके आधार पर बड़े-बड़े धर्मों की स्थापना हुई और बड़े-बड़े शास्त्रों की रचना की गई। परन्तु मनुष्य को इससे शान्ति नहीं मिली और वह जन्म, मृत्यु आदि के मूल रहस्यों की खोज में पड़ा ही रहा। लौकिक स्थितियों का यदि पता लगता है और यदि किन्हीं भौतिक शक्तियों का आविष्कार होता है तो वे सब बातें मान ली जाती हैं और बार-बार उसके प्रमाण आदि की खोज नहीं की जाती; पर आध्यात्मिक विषयों की सत्यता और तत्संबंधी अनुसंधान का परिणाम नितान्त व्यक्तिगत होता है। उससे व्यक्ति विशेष को भले ही सन्तोष हो, पर दूसरों को अपने सन्तोष के लिए उसकी स्वयं खोज करनी पड़ती है।

प्रत्येक अन्वेषक का प्रकार पृथक्-पृथक् होता है। उसका निष्कर्ष भी उसके निज के अनुभव, अध्ययन और अदृष्ट और अज्ञेय कारणों से जन्मना

प्राप्त प्रकृति के अनुरूप होता है। इस समय अपने देश में अद्भुत स्थिति उत्पन्न हो गई है। बहुत दिनों से विदेशी शासन के अधीन हम रहे। घटना चक्र ने हमें यकायक स्वतंत्र कर दिया अर्थात् राजनैतिक दृष्टि से हम स्वाधीन हो गये और ऐसी अवस्था में हम अपने भाग्य के विधाता स्वयं हो गये। हमें वे सब अवसर मिले, जिनका हम उपयोग कर अपने आदर्शों को प्राप्त कर सकते हैं, अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति कर सकते हैं, अपने सुख के साधनों को एकत्र कर सकते हैं; पर इसमें संदेह नहीं कि हम अपनी परम्पराओं और पुराने संस्कारों के प्रभाव से पृथक् नहीं हो सकते। इस कारण हमारे बीच भयंकर संघर्ष उत्पन्न हो गये हैं।

एक तरफ हमारी पुरातन आध्यात्मिक और दार्शनिक भावनाएं हैं, जिनका प्रभाव हमारे हृदयों में पड़ा हुआ है, दूसरी तरफ विदेशी शासनों के अनुभव हैं, जिन्हें भी हम भुला नहीं सकते। विदेशों से प्राप्त विचार-शैलियां और कार्य-प्रणालियां भी हमें अपनी ओर आकर्षित करती हैं और हम भी उन देशों की तरह होना चाहते हैं, जो इस समय समुन्नत और भौतिक और वैज्ञानिक दृष्टि से बड़े वैभवशाली हो रहे हैं। साथ ही न हम अपने पुराने संस्कारों को भूल सकते हैं, न पुराने अनुभवों से अपने को दूर रख सकते हैं। अवश्य ही इस समय का हमारा संघर्ष स्वाभाविक और अनिवार्य है, तथापि उसके कारण हम भयंकर व्यामोह में पड़ गये हैं। जो कोई हमें ठीक मार्ग जानने में सहायता दे, वही हमारे धन्यवाद का पात्र है।

अवश्य ही इन्हीं सब प्रश्नों पर विचार करते हुए तथा देश, समाज और संसार पर विहंगम दृष्टि डालते हुए, मेरे मित्र श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला ने कुछ सुन्दर लेख लिखे हैं, जिनमें प्राचीन और अर्वाचीन विचारों और स्थितियों का चित्र-चित्रण करते हुए उन्होंने सबका समन्वय करने की आवश्यकता पर सभी का ध्यान दिलाया है। उनकी यही अभिलाषा है, जो सर्वथा उचित और साथ ही व्यवहार्य है, कि हम पुरातन आदर्शों से सम्बद्ध रहते हुए नये आविष्कारों को अपनाएं और आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक आचार-विचारों का सम्मेलन कर अपनी सच्ची उन्नति करें।

आध्यात्मिक लोग प्रायः सांसारिक बातों को हेय समझते हैं और

सांसारिक लोग आध्यात्मिक बातों को व्यर्थ की विडम्बना मात्र मानते हैं। केवल एक तरफ का ही हो जाने में व्यक्ति और समाज दोनों की हानि है। हमारे विज्ञ लेखक ने अपने भावपूर्ण और विद्वत्तापूर्ण लेखों में दोनों की आवश्यकता बतलायी है, जिससे लोक-परलोक दोनों ही हम बना सकें। श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला ने अपनी रचनाओं में अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए प्राचीन शास्त्रों के वाक्यों को यदि एक ओर उद्धृत किया है तो दूसरी ओर पाश्चात्य वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के विचार बतलाये हैं। अपने विस्तृत अनुभव और अध्ययन का इस प्रकार लाभ अपने पाठकों को पहुंचाया है। देश को किस मार्ग से चलने से लाभ होगा और उनकी दृष्टि में देश का भावी रूप क्या होना चाहिए, यह भी दर्शाया है। उनका सुन्दर आदर्श यही है कि हम अपने देश का आर्थिक और राजनैतिक संघटन इस प्रकार का करें, जिससे व्यक्ति अपने आन्तरिक आदर्शों, अभिलाषाओं और आकांक्षाओं के अनुकूल कार्य कर सकने में स्वतंत्र रहे और साथ ही समाज के हित के लिए सुसंघटित राज्य की आवश्यकता अनुभव करते हुए प्रत्येक स्त्री-पुरुष देश को स्वतंत्र बनाये रखने में सदा सक्रिय सहायक हो। इसी दृष्टि से सब समस्याओं की विवेचना करनी चाहिए और इनके समाधान का क्या प्रकार हो सकता है, इस संबंध में लेखक के सुझाव पर ध्यान देना लाभदायक होगा।

मैं लब्ध-प्रतिष्ठ बिड़ला-कुटुम्ब के सुयोग्य सदस्य श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला के लेखों का स्वागत करता हूं। मेरी शुभकामना है कि इनका अच्छा प्रचार हो और इस समय की स्थिति से व्याकुल स्त्री-पुरुष निराश न हों, पर अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए देश और समाज को उनके अभीष्ट लक्ष्य पर पहुंचाने में सदा यथाशक्ति, यथाबुद्धि, प्रयत्न करते रहें।

—श्रीप्रकाश

सेवाश्रम, सिगरा, वाराणसी

अनुक्रम

□

□ □

जीवन
की
चुनौती

•

१ / जीवन की चुनौती

जीवन कैसे जिया जाय ? इसका उत्तर दे पाना सरल नहीं है। जीवन के तत्व और जीने की परिस्थितियां परस्पर अत्यन्त जटिल ताना-बाना बुनती हैं। विभिन्न परिस्थितियों का सामना करने के लिए कितने दृष्टिकोण अपनाये जा सकते हैं, इसकी कोई सीमा नहीं है। फिर भी, आम भाषा में, हर जीवन निराला है, जबकि हर जीवन दूसरे से अभिन्न है।

पहली बात यह है कि जीवन का सार उद्यम है। मानव-जीवन को जन्म देने की इच्छा में भी माता-पिता का उद्यम अपेक्षित है। वह किसान भी, जो अन्न और फल-फूल वनस्पति-जीवन, का विकास करता है, रुचिकर और उपयोगी उद्यम अपनाता है। नये जीवन के सृजन की इच्छा तथा निर्णय अपने आपमें एक महाकार्य, एक आनन्दकर दायित्व, है।

जीवन स्वयं एक रहस्य है; किन्तु एक बार जीवन के अस्तित्व में आने पर उसका संचालन अपनी निजी अंतर्निहित शक्ति से, भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति से, होना चाहिए। पशु और वनस्पति-जीवन के बारे में तो हम कल्पना ही कर सकते हैं, किन्तु मानव-जीवन मनुष्य के जीवन-विषयक चिन्तन का निरन्तर रूपांतर है। वही जीवन श्रेष्ठ जिया जाता है, जो जीने की ज्वलन्त इच्छा से उद्भूत तथा संकल्पित हो। व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टि से, हमारा विचार और कर्म, रूपांतरकारी

शक्ति प्रदान करते हैं और उस आदि-सत्ता को पूर्णता प्रदान करते हैं, जो जीवन का मूर्त रूप है।

जीवन के अस्तित्व के मंच पर अवतरित होने पर उसकी भूमिका से पात्र का चरित्र प्रकट होता है। मानव-समाज का गठन मन की कही और अनकही भाषा के द्वारा होता है, क्योंकि मन ही जीवन को निर्दिष्ट मार्ग पर आगे बढ़ाता है। अन्ततः मन ही मनुष्य का निर्माता है और सृजन की दुनिया में मन के विकास का प्रतीक ही मानव है। मन सृजन की पराकाष्ठा है।

आज के समाज के सामने मुख्य चुनौती वर्धमान परिवर्तनों की दुनिया में पैदा होनेवाली कठिनाइयों और अवसरों की है। वह ऐसी पहले कभी नहीं थी। यों तो परिवर्तन सदा से मानव की परिस्थिति का भाग रहा है, किन्तु अन्तर अब परिवर्तन की गति का है। यह परिस्थिति मनुष्य की अपनी पैदा की हुई है। जीवन का नाटकीय कर्म संकटों से जूझना, अज्ञात और अज्ञेय को जानना है, क्योंकि मन की शक्ति ही सच्ची ज्योति है।

पुरातन समाज का ढांचा सीधा-सादा था, विशेषकर विगत कोई सौ वर्षों में फल-फूलकर वह जटिल हो गया है। उसका आकार विशाल हो गया है और सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि उसके विकास से व्यक्ति का क्षेत्र व्यापक हुआ है तथा अकेले ही उसे अपनी समस्याओं का सामना करना है।

एक ऐसे जहाज की मिसाल लीजिए, जो बीच समुद्र में डूबता हो और उसके यात्री तितर-बितर हो रहे हों, प्राण-रक्षा के लिए उन्हें लहरों से जूझना हो। वे एक-दूसरे की ओर समझदारी की दृष्टि डाल सकते हैं और सहायता के लिए संकेत भी दे-ले सकते हैं, किन्तु एक दूसरे के लिए कुछ कर नहीं सकते।

ऐसी ही यह दुनिया है। यहां हर व्यक्ति को अपने लिए संघर्ष करना है। कदाचित् ही किसी को पकी-पकायी मिले।

अभी उस दिन मैंने अपना ट्रांजिस्टर खोला। 'विविध भारती' का कार्यक्रम चल रहा था। एक गीत की दो पंक्तियां अब भी मेरे मन में चक्कर काट रही हैं: "न मुंह छुपा के जियो, न सर झुका के जियो।" इसकी संगीत-माधुरी के अलावा इसके गहरे अर्थ को भी समझना चाहिए। इस संदेश की उपेक्षा कर भला कौन शान का जीवन व्यतीत कर सकता है? पूर्ण जीवन जीने के लिए जीवन से संघर्ष करना होता है। बिना इस स्पष्ट तथ्य को स्वीकार किए जीवन की तरुण छाया और प्रखर प्रकाश का अनुभव नहीं हो सकता। तत्व के ढांचे से अधिक महत्त्वपूर्ण जीवन की चमक है।

हम अनेक विरोधाभासों, अनेक द्वन्द्वों, अनेक अप्रकट रहस्यों की बात सोच सकते हैं। हो सकता है, उनमें कुछ सदा ही अज्ञात रहे आयें और थोड़े-से व्यक्ति केवल जर्जर पत्रों तथा मर्मर संगीत की अस्पष्ट विडम्बनाओं को ही देख सकें। जो कुछ हमारे प्रयत्नों पर अंकुश लगाता है, उसे हम दैव (भाग्य) कहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से सोचने और नैतिक अंतर्दृष्टि से देखने से यह द्वन्द्व रहस्यवादी रूप धारण कर लेता है, हम इसे 'माया' कह सकते हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व में शाश्वत धर्म की चर्चा करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था:

"उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर।
न ह्युत्थानमृते देव राज्ञामर्थं प्रसाधयेत्॥
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चित्य मुह्यते॥"

—पुत्र, सदा उद्यमपूर्वक प्रयत्न करो, उद्यम के बिना दैव (भाग्य) राजाओं को भी सिद्धि प्रदान नहीं करता। मैं पौरुष को अधिक महान् मानता हूं। दैव में विश्वास करनेवाला मनुष्य उलझन में फंस जाता है।

वास्तव में दुर्बल व्यक्ति ही दैव को दोष देते हैं। दैव का सही उपयोग हमारे व्यवहार में सम उदात्तता लाना है। दैव का सर्वोत्तम उपयोग दुर्दम्य साहस का पाठ पढ़ाने में है, क्योंकि यदि दैव इतना व्यापक है तो मनुष्य भी उसी का अंग है, फिर क्या उसे दैव की अनिवार्य चुनौती को स्वीकार कर उसका सामना नहीं करना चाहिए ? किन्तु यह केवल अपनी सफाई के लिए बहाना-भर है। विचार-दोहन मनुष्य को दासता से निकाल कर स्वतन्त्रता प्रदान करता है। फिर भी, उसके सामने बड़ी-बड़ी समस्याएं, बड़े-बड़े चमत्कार आ सकते हैं और उसे उनके साथ निर्वाह करना चाहिए।

बाधाएं सामने आने पर कायरता दिखानेवाले व्यक्ति अपनी ही दृष्टि में गिर जाते हैं। तर्कहीन द्वन्द्व से अन्तरात्मा संतुष्ट नहीं होती। पलायनवादी प्रवृत्ति मार्ग में और बाधाएं ही खड़ी करती है।

मनुष्य के जीवन में सुरक्षा-जैसी कोई वस्तु नहीं है, उसे सावधानी से आगे बढ़ना है और गलत कदम पीछे हटाना है।

ग्रीक दार्शनिक एपिक्टेटस ने स्वयं से प्रश्न किया, "मनुष्य इतनी समस्याओं के जाल में फंसा है, उसे क्या करना चाहिए ?" उसने स्वयं उत्तर दिया, "जो-कुछ हमारे अधिकार में है, उसका अधिक-से-अधिक लाभ उठाओ और शेष को उसके स्वाभाविक रूप में ग्रहण करो।"

इसीलिए 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में प्रार्थना की गयी है :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।

(अध्याय ५, ब्राह्मण १५)

हिरण्य (स्वर्ण) के पात्र ने सत्य के मुख को ढंक लिया है। हे पालन-कर्त्ता, उस आवरण को हटा दो, जिससे सत्य स्पष्ट रूप से दिखाई दे सके।

जीवन का सौन्दर्य चेहरे की मुस्कान में प्रतिबिम्बित होता है। मुख के भाव मन की बात को प्रकट करते हैं। यदि अपना मन सबल है, मनुष्य को कुछ भी छिपाना नहीं है, तो वह संसार और उसके सभी निन्दा-बाणों का सामना कर सकता है। साहस-मिश्रित सौंदर्य में लावण्य की गरिमा झलकती है और तब स्वभावत: अपनेपन की भावना अपने पर छाने का प्रयत्न करने-वाली किसी भी शक्ति के आगे मनुष्य को सिर नहीं झुकाने देती। बल से दमन का अधिकार नहीं मिलता, क्योंकि उससे मनुष्य के स्वतन्त्र रहने का मौलिक अधिकार छिनता है और उस अधिकार को त्याग देना मनुष्य-पद को ही खो देना है। रूसो कहता है :

"स्वतन्त्रता को त्यागना मनुष्य-पद को त्यागने जैसा है।"

वेदान्त तो और भी आगे जाता है। एक महावाक्य है : 'तत् त्वम् असि'—वह तू है अर्थात् तुम ईश्वर से अन्य नहीं हो। अत: जब तुम भय से या दीनता से किसी सांसारिक जीव के आगे सिर झुकाते हो तो अपने देवत्व का अपमान करते हो। अभद्र अधिकार में वेष्ठित किसी भी व्यक्ति के आगे निरन्तर सिर झुकाते रहने से अंततः मनुष्य उस बिन्दु पर पहुंच जाता है,

"जिस बिन्दु पर अपमान कचोटना बन्द कर देता है।"

(टी० एस० इलियट)

जीवन की गरिमा माधुर्य और शक्ति के सही मिश्रण में है। विनम्रता के राजकुमार ईसामसीह ने अपनी महानता का परिचय उन लोगों को क्षमा करके दिया, जिन्होंने उन्हें दण्डित कर सूली पर लटकवाया था।

सबलतम में भी इतना बल नहीं होता कि सदा उसी की प्रभुता रही आये। रात्रि का बल उसके तमाच्छादित रहने तक ही है। प्रकाश की एक क्षीणतम किरण दिखाई देते ही वह भाग खड़ी होती है। आम अभाव के कारण समाज पर अन्यायपूर्ण व्यवस्था छायी रही, जिसने सभ्यता की प्रगति को प्रभुता के साथ जोड़े रक्खा। परन्तु क्या यह अनिवार्य है? प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हर्बर्ट मारकस का कहना है कि ऐसा नहीं है। उसके अनुसार "प्रभुता सत्ता के न्याय-संगत उपयोग से भिन्न है।" मार्क्स का उल्लेख करते हुए वह आगे कहता है, "मार्क्स के अनुसार सच्चे समाजवादी शासन में बागडोर 'नीचे से' खिचनी चाहिए, देश के नेता केवल जनता के प्रवक्ता मात्र हैं।"

विगत अनेक वर्षों से मनुष्य के गौरव और गरिमा में वृद्धि हुई है। वह उड़कर चन्द्रमा पर जा रहा है और अंतरिक्ष में अपने करतब दिखा रहा है। घटना-क्रम का विशेष महत्त्व दिखाई नहीं देता, क्योंकि यह क्रम काल से इतना सम्बन्धित नहीं है, जितना वास्तव में अंतरिक्ष में भूत के भविष्य के साथ, और भविष्य के भूत के साथ असम्भव सामंजस्य-जैसे सदा विद्यमान तत्त्व से सम्बन्धित है। मानव-स्वभाव का स्वातंत्र्य-प्रेम परिभाषा से बदला नहीं जा सकता और न बदलेगा ही, यद्यपि कभी-

कभी उसकी दिशा मुड़ सकती है। मनुष्य को अब तानाशाहों का कोई भय नहीं है, और निस्संदेह, मृत्यु तक की, भावनात्मक यातना न रहने पर यह भय होना असम्भव है। फिर भी, कभी-कभी बल से जो काम नहीं हो पाता, वह प्रेम जैसे सरल साधनों से हो जाता है। ○

२ / गहरे पानी पैठ

दुनिया की कहानी का नायक है मनुष्य और इस नायक के पीछे है सामान्य मनुष्य यानी आम आदमी। लम्बे अरसे से सामान्य मनुष्यों को नायक नचाते आये हैं। यह नहीं कि सभी नायक स्वार्थरत रहे हों। नायकों में बुद्ध, ईसा, जरथुस्त्र और कन्फ्यूशियस भी रहे हैं। पर ब्रह्म-सूत्र के शारीरिक भाष्य में एक वाक्य आता है:

"तत्राऽविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येता-
नार्थं चेयात्।"

अन्धविश्वास से किसी का भी अनुसरण करने का अर्थ होता है अपनी स्वयं की बर्बादी।

निर्मल विचार की मंगल वेला में तब मन में अन्तर्दृष्टि का सहज प्रवाह होता है, जब हम विचार के प्रकाश में स्वयं ही समीक्षा करते हैं। तब हमें ज्ञात होता है कि संसार सौन्दर्य से ओत-प्रोत है।

विभूति का आधार प्रतिभा है, जो रचनात्मक है। प्रतिभा और बुद्धिवाद अमूर्त सत्य के अन्वेषण के प्रतीक हैं। प्रतिभा भाव से निर्लिप्त है और वह वस्तुओं का यथार्थरूप से पर्यवेक्षण करती है। प्रतिभा आकार का अनावरण करती है, अनावरण को पार कर जाती है, दूरस्थ वस्तुओं में तात्त्विक अभिन्नता का अन्वेषण करती है और वस्तुओं को सिद्धान्त से प्रतिपादित

कर देती है ।

फंसा हुआ जलपोत जैसे लहरों से प्रताड़ित होता है, उसी प्रकार मानव, जो भौतिक जीवन में बन्दी है, भविष्य की घटनाओं से संतप्त रहता है। पर सत्य तो प्रतिभा से परे है। वह भाग्यचक्र के बन्धन से मुक्त है।

जीवन-पर्यन्त कर्म का ढर्रा तो चलता ही रहता है। जो कहते हैं कि हमने कर्म-संन्यास ले लिया, वे गलत कहते हैं। कर्म करनेवाले को, कैसी स्थिति में वह क्या करे, यह जानने की उत्सुकता रहती है।

सभी धर्मों में आदेश है कि यह करो, वह करो, किन्तु एक भागवत-धर्म या मानव-धर्म ही ऐसा है, जहां गीता में जिज्ञासुरूप अर्जुन से कहा गया है :

"बुद्धौ शरणमन्विच्छ।"

अर्थात्, बुद्धि की शरण में तू चला जा, बुद्धिपूर्वक कर्म कर। जो भी कर्त्तव्य-कर्म करना हो वह बुद्धि से समझकर किया जाय। भ्रम को या कहिये भूल को, सुधारने का एक ही उपाय है—गम्भीर-चिन्तन। कबीरदासजी ने कहा है :

"जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।"

लेकिन गम्भीर चिन्तन के लिए पहले चित्त शुद्ध तथा बुद्धि स्थिर होनी चाहिए। डांवाडोल बुद्धि से तो मनुष्य गलत फैसले पर पहुंच जाता है। गीता के दूसरे अध्याय में कहा गया है :

"प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।"

यहां प्रसन्न का अर्थ खुशी नहीं है। संस्कृत में प्रसन्न का अर्थ निर्मल भी होता है, अर्थात् निर्मल चित्तवाले व्यक्ति की बुद्धि

शीघ्र स्थिर हो जाती है।

यदि बुद्धि के पीछे काम, क्रोध, लोभ इत्यादि की नकारात्मक भावना रहती है, तो बुद्धि स्थिर नहीं होती। बिना स्थिर-बुद्धि के ज्ञान प्राप्त नहीं होता है।

समझने की शक्ति से यह प्रकट होता है कि सामान्य व्यक्ति भी यथार्थ सत्य का विचार कर सके। प्रत्येक विकास के साथ मस्तिष्क का भी सर्वथा स्वतः विकास हो जाता है। इस स्वतः विकास के समय ध्यान तथा साधन का पूर्वाभास अविकसित मस्तिष्क को नहीं होता।

"नहिं ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"

अर्थात्, ज्ञान के सदृश पवित्र दूसरी कोई वस्तु नहीं है। हमारे अन्तःकरण में जो ज्ञानवृत्ति पैदा होती है, वह कर्म-अकर्म को, सत्य-असत्य को समझती है। अज्ञान का निवारण ही उसका प्रयोजन है। ज्ञान के द्वारा ही, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक, हम आगे बढ़ते हैं। फिर तो अर्जुन की तरह भगवान को अपनी बागडोर संभालनेवाला, भगवान को सारथी बनाने वाला, तो पार निकल ही जाता है। ○

३ / मुक्त मार्ग की मंजिल

सतत नये-नये विचार, नया ज्ञान, नये लोग, ये सभी सृष्टि की प्रकृति के बारे में हमारी विज्ञता में निरन्तर परिवर्तन कर रहे हैं। व्यक्ति पर इसका सीधा और निर्णयात्मक परिणाम यह पड़ रहा है कि अब कोई भी बालक उसी प्रकार की दुनिया में रहनेवाला नहीं, जिसमें उसके पिता और पितामह रह रहे हैं।

सहस्रों वर्षों से बच्चे अपने पूर्वजों के दिखाये मार्गों पर चलते रहे हैं। उन्हें सुस्थिर पथों पर चलने तथा संस्कारबद्ध जीवन जीने के लिए दीक्षित किया जाता रहा है और उन्होंने अपनी-अपनी भूमि तथा परिवार के साथ आन्तरिक सम्बन्ध कायम रक्खे हैं। आज न केवल अतीत से पूर्ण विच्छेद हो रहा है, वरन् बच्चे को एक अनजान भविष्य के लिए प्रशिक्षित करना भी अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

यह सब न केवल हमारे युग की ज्वलंत विशेषता है, उसके रूप-परिवर्तनों का मूल भी है, क्योंकि जैसे-जैसे दुनिया हमारे सामने अधिक उजागर होती है, अनुभव की भूख भी बढ़ती है। परिवर्तन तथा नवीनता की लालसा है और चमत्कार की खोज है। इससे पुराने विश्वासों का क्षरण हो रहा है। उसका स्थान मिले-जुले विश्वास और शैलियां ले रही हैं। प्राचीन और परम्परागत रूढ़ियों को तिलांजलि दी जा रही है। संस्कृति का यह मिला-जुला रूप भी इतनी तेजी से आज के जीवन की लय को

निर्धारित कर रहा है, जिसमें मौजूदा दुनिया में अर्थ की खोज में परेशान अनगिनत व्यक्तियों की अशांति-भावना निहित है।

अतीत में सभी मानव-समाजों ने 'पावन' और 'अपावन' में भेद किया है, किन्तु हमारा युग निरपेक्ष है।

हमारे युग की एक दूसरी ज्वलंत विशेषता यह है कि जनता अपने सामाजिक 'निषेध' को स्वीकार करने के लिए और अधिक प्रस्तुत नहीं है। बुनियादी अर्थों में यह भावना व्यक्तिवाद के ऐतिहासिक दावों से श्रेणी में नहीं, व्यक्ति की भांति समझने की मांग से विकसित हो रही है।

अत्यन्त उलझे, जनसंकुल राष्ट्रीय समाज में एक नया सामाजिक रूप प्रकट हो रहा है। इसे हम सामुदायिक समाज कह सकते हैं। इस सामुदायिक समाज की विशेषता न केवल परस्पर निर्भरता में वृद्धि है, वरन् यह तथ्य भी है कि व्यक्ति के अभावों को पूरा करने के लिए अधिक-से-अधिक कार्य दल या सामुदायिक साधनों के माध्यमों से करने पड़ रहे हैं।

राजनीति के ऐसे दलगत आधार के फलस्वरूप लक्ष्यों और अधिकारों का संघर्ष होना स्वाभाविक है। व्यक्ति के मूल अधिकारों पर आधारित परम्परागत सिद्धान्त विवादों को सुलझाने के लिए सदा स्पष्ट नियम नहीं दे पाते और फिर व्यक्ति को भी जीवित तो रहना ही है।

किंतु यह बात सहज समझ में आ जानी चाहिए कि हमारे समाज के सामने जैसी समस्याएं हैं, उन्हें सुलझाने के लिए वर्तमान आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक संगठन पूर्णतः अपर्याप्त हैं।

आज के समाज-शास्त्र में एक ऐसी बहस छिड़ी हुई है, जो

यहां व्यक्त विवादों की जड़ तक पहुंचती है। व्यक्ति पर आधुनिक समाज के प्रभाव का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया जा रहा है। एक ओर ऐसे लेखक हैं, जिनकी दृष्टि में आज का समाज नये विस्तारों, अधिक गतिशीलता और नये विचारों तथा नयी संस्कृतियों की सम्पूर्ण उपलब्धियों के कारण व्यक्ति को अधिक अवसर प्रदान कर रहा है, (एक समाज-शास्त्री का कहना है कि आधुनिक होने का अर्थ जीवन को विकल्पों, प्राथमिकताओं और अभिरुचियों के रूप में देखना है।) दूसरी ओर ऐसे लेखक हैं, जिनकी दृष्टि में मानव पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विच्छिन्न और अलग-अलग हो गये हैं।

आज के अधिकांश राजनैतिक और सामाजिक विवाद परिवर्तन की गति और रूप के बारे में चिन्ता से पैदा होते हैं। अनेक मामलों में, विरोध के साथ, ये प्रस्ताव भी आते हैं कि सरकार कुछ अधिक नियंत्रण लागू कर व्यवस्था कायम करे। केन्द्रीय सरकार से यह आशा की जाती है कि वह बड़ी मात्रा में लचीलापन तथा विकेन्द्रीकरण अपनाकर व्यक्ति की पूरी रक्षा करे, लेकिन वह ऐसा कर पावेगी, इसमें संदेह है।

पूर्णिमा की निस्तब्ध रात्रि में आकाश में पूर्ण चन्द्र अपनी छटा बिखेर रहा है। करोड़ों वर्षों से वह पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है और इसमें कभी व्यवधान नहीं पड़ा। उसके ग्रहण तक क्रमबद्ध होते हैं और उनकी भविष्यवाणी की जा सकती है। सृष्टि की घड़ी न कभी तेज चलती है, न धीमी। प्रकृति में सर्वत्र अद्भुत संतुलन और लय है। वह व्यवस्था और निश्चितता के अनुशासन में बंधी है। चन्द्रमा गुरुत्वाकर्षण के नियमों का पालन करता है; किन्तु मानव-जीवन के बारे में पूरी तरह कुछ

भी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती; क्योंकि मनुष्य, केवल मनुष्य ही, अपने वातावरण में परिवर्तन ला सकता है या अपना भविष्य बदल सकता है। ईश्वर ने उसे अपनी इच्छा-शक्ति दी है और उसको खुला छोड़ दिया है। वह सोचने को स्वतन्त्र है, वह तन्त्र के अधीन है, पर वह तन्त्र है उसका अपना, स्वतन्त्र या स्वनियन्त्रित ।

दर्शन ही चिन्तन है। वह विज्ञान, धर्म तथा जीवन के बीच मानो पुल है। वह एक भावना है, एक अनुशासन है, सदाचरण है। वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सत्य की खोज है।

उच्च प्रशासनिक दायित्वों के पदों पर आसीन लोगों में अपने निजी निर्णयों में अधिक विश्वास करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। वे स्थितियों का सर्वेक्षण करने और सही निर्णय लेने में दूसरों की अपेक्षा स्वयं को अधिक निपुण समझते हैं । दरअसल, यह उनका काम है; लेकिन जब जनता भी सम्बन्धित है, तो ये अधिकारी यह महसूस नहीं कर पाते कि इस विश्वास को प्रकट करने के लिए निर्णय की महज घोषणा पर्याप्त नहीं है। मुख्य कार्यकारी लोगों से यह आशा नहीं कर सकता कि वे उसके निर्णयों पर केवल इसलिए विश्वास करें, क्योंकि वे 'उसके' निर्णय हैं। उसे बताना चाहिए कि उसने किन प्रमुख बातों को ध्यान में रक्खा है, जिससे लोग जान जायें कि उसने जो कुछ निर्णय किया है, वह सही है और प्रभावशाली नीति भी है। लोग लक्ष्य के बजाय साधनों के बारे में एक उच्च अधिकारी को कहीं अधिक छूट देने के लिए तैयार हो सकते हैं, किन्तु उन्हें यह महसूस हो जाना चाहिए कि उसके निर्णय और नीति में वे भी भागीदार हैं।

विंस्टन चर्चिल ने लोकतन्त्र की परिभाषा करते हुए कहा था, "उसमें दूसरे लोगों की राय पर निर्णय में सामंजस्य करने की प्रायः आवश्यकता होती है।" वह इस नीति को दूसरे युद्ध-कालीन नेताओं से ज्यादा भली-भांति समझते थे। जब परिस्थि-तियों ने मोड़ लिया तब उन्होंने लोगों को जाकर समझाया कि क्या हो चुका है और क्यों? उन्होंने अपने निर्णयों की सहज घोषणा करने के बजाय सावधानी तथा धैर्य से उन्हें समझाया और इस बात पर जोर दिया कि जनता अपने निर्वाचित प्रति-निधियों के माध्यम से न केवल निर्णय करती है, बल्कि उत्तर-दायित्व में भी हिस्सा बंटाती है।

जब नीतियां और कानून जनमत से दूर पड़ जाते हैं या यह मान लिया जाता है कि जनमत तो उनके पक्ष में ही है, अथवा नेतृत्व जनता के मन को जीतने में असफल रहता है, तो उसका स्वाभाविक औचित्य समाप्त हो जाता है। तब जड़रहित वृक्ष की भांति लोकतांत्रिक परीक्षण एक अभिशाप बन जाता है। जो कुछ चल रहा है, उसे बदलने में प्रकटतः निःस्वत्व जनता अपनी सरकार से खिंच जायेगी। जब नीति बदल पाने की सम्भावना क्षीण होती है, तो वह प्रायः प्रदर्शन कर नीति को चुनौती देती है। उसकी असमर्थता से या तो निष्क्रिय उपेक्षा या कहीं अधिक खतरनाक सीधी शत्रुता जन्म ले लेती है।

कुछ लोकनेता ऐसे होते हैं, जिनमें अपनी बात समझाने की आदत नहीं होती। वे घोषणा करते हैं, सिखाते हैं, अपील करते हैं और दलीलें देते हैं; लेकिन वे खुलकर अपनी बात नहीं कहते कि उन्होंने क्या किया है और उसके बारे में वे क्या सोचते हैं, क्या महसूस करते हैं। इस प्रकार आम वातावरण रहस्यपूर्ण बन

जाता है, जो अवश्य ही सकट के समय मन का उत्साह नहीं बढ़ाता। राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से, संकट आने पर लोग जानकारी न मिलने को सहन कर सकते हैं; किन्तु जिस क्षण वे समझ लेंगे कि रहस्य रहस्य बनाये रखने के लिए है, उसी क्षण उसे सहन न करने की भावनात्मक प्रतिक्रिया होने की सम्भावना है, कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि अमुक नीति को जनता चाहती है। इस तरह जनमत लिया ही नहीं जाता, नेता का अपनामत ही जनमत बन जाता है। सुकरात ने तो यहां तक कहा है :

"लोकमत से ही सच और झूठ का अन्तिम परीक्षण नहीं करते। एक सतत न्याय भी है और सच्चे लोग आत्म-ज्ञान और न्याय-बुद्धि से इसे समझकर इसका पालन करते हैं।"

युद्धोत्तर पीढ़ी के सामने दो ही विकल्प हैं—कम्युनिस्ट संसार के साथ सबका एकीकरण, अथवा अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए पूरा प्रयत्न करना। अपने समाज के रूप और अपने भविष्य का निर्णय करने का मनुष्य का अधिकार सर्वथा स्वाभाविक लगता है, और यह सकारण है। आत्मनिर्णय का सिद्धान्त वैदिक समाज में तो था ही, यूरोप में भी वह प्राचीन यूनान में दासयुग के समय प्रतिपादित हुआ, मध्य युग के प्रबुद्ध धर्म-ज्ञान और पुनर्जागरण द्वारा उठाया गया, 'संसदों की जननी' इंग्लैण्ड द्वारा अमल में लाया गया, फ्रांसीसी क्रांति द्वारा उद्घो-षित किया गया और उद्योग की स्वतन्त्रता की प्रेरणा के माध्यम से अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उसका विस्तार किया गया। कम्युनिस्ट संसार भी उसके सभी आयामों को बन्द नहीं कर सकता; कार्ल मार्क्स तक का उसकी अनिवार्यता में विश्वास था। उनकी नई

व्यवस्था किसी विशेष पूर्व व्यवस्था की भांति नहीं बनी, बल्कि उन्होंने उन प्रणालियों के अनुरूप समझी, जिन्हें अपने विचार से इतिहास के सामान्य नियमों में देखा।

व्यक्ति या समाज शाश्वत सत्य का निर्णय नहीं कर सकते और समाज में परिवर्तन से सत्य नहीं बदलता। मानव के सत्य-बोध पर, वह क्या और किस प्रकार अनुभव करता है, सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ सकता है। भारी सामाजिक आलोड़न के समय शाश्वत समझे जानेवाले सत्यों की संख्या कम हो सकती है और इसलिए वे अधिक मूल्यवान हैं। वे अधिक निगूढ़ अनुभव किये जा सकते हैं और इसलिए वास्तविक जीवन में उन पर अमल करना अधिक दुस्तर है। अतः बदलते समाज के नये रूपों और निगूढ़, चिरन्तन सत्य के बीच मध्यवर्ती कड़ी बनाना आवश्यक है।

प्लेटो के अनुसार, "लोकतन्त्र में स्वतन्त्रता राज्य की शोभा है और इसलिए लोकतन्त्र में केवल प्रकृति का उन्मुक्त जन ही रहने का विचार करेगा।"

आत्मनिर्णय की, पहले भौतिक दमन से और फिर सामाजिक प्रतिबन्धों से मुक्ति की, यह भावना हमारी सभ्यता का प्रमाण-चिह्न है। जिस दिन यह भावना इस सीमा तक क्षीण हो जायेगी कि हम अपना कार्य अपने से किसी बड़े व्यक्ति से कराने के लिए छोड़ दें, उसी दिन हमारी सभ्यता की कमर टूट जायेगी, हमपर अपनी विफलता के ज्ञान का कलंक लग जायेगा। ○

४ / "तेज एव श्रद्धा"

"तेज ही श्रद्धा है"—शतपथ ब्राह्मण की इस सूक्ति में 'तेज' ज्ञान के अर्थ में आया है। सच्ची श्रद्धा ज्ञान से ही होती है। मलेरिया का रोगी, कड़वी होते हुए भी, कुनैन को श्रद्धापूर्वक फांक लेता है, क्योंकि वह कुनैन के गुण को जानता है। आर्य लोग यज्ञादि करते थे और द्रविड़ मूर्ति-पूजक थे। जब आर्य और द्रविड़ संस्कृति का मिश्रण हुआ तो तमिल के 'पू' शब्द से पूजा आर्यों ने भी ग्रहण कर ली।

इतिहासकार कहते हैं कि वेदों में भक्तिमार्ग का उल्लेख आता हो या नहीं, किन्तु यह निर्विवाद है कि भक्ति-सिद्धान्त का प्रभाव उल्लेखनीय नहीं था। भक्तिमार्ग के सिद्धान्त की विशेष चर्चा ईसा-पूर्व पांचवीं सदी में रचित पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' से पहले नहीं पायी जाती। पाणिनि ने 'वासुदेव' के प्रति भक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। यह सिद्धान्त आगे चलकर और भी पुष्ट हो गया और आर. सी. मजुमदार का कहना है कि ईसा से दूसरी सदी पूर्व इसका प्रभाव बढ़ने लगा। यों तो कृष्ण का समकालीन करवीपुर का राजा शृगाल दो कृत्रिम हाथ लगाकर अपने-आपको वासुदेव कहता था और उसके राज्य में उसकी पूजा होती थी।

आगे चलकर 'वासुदेव', 'कृष्ण' या 'विष्णु' नारायण के रूप में परम आराध्य देव माने जाने लगे। शतपथ ब्राह्मण की

एक कथा के अनुसार तो नारायण और ही कोई पुरुष थे, जिन्होंने प्रजापति के कहने से तीन यज्ञ किये थे। विष्णु के मूर्तिरूप में वासुदेव की पूजा शायद पहली शताब्दी में ही शुरू हुई हो।

मथुरा के कुशान-वंश में राजा हविष्क के सिक्कों पर चतुर्भुज विष्णु की छाप पाई जाती है। इनके वंशज आगे जाकर वासुदेव भी कहलाने लगे। दक्षिण में कृष्णा जिले में प्राप्त द्वितीय शताब्दी में एक लेख में विष्णु-भक्ति का उल्लेख मिलता है। कहते हैं, सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय भागवत धर्म का पूरा भक्त था। लोग उसे परमभागवत के नाम से पुकारते भी थे। गुप्त-काल में भक्ति का प्रभाव भी जोरों से बढ़ा।

यदि भक्ति से मुक्ति का होना माना जाय, तो यह इसलिए कि भक्ति से ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। मुक्ति चाहे ऐहिक हो अथवा आध्यात्मिक, बिना ज्ञान के संभव ही नहीं। गीता में कहा है, "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते", ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं है। यह स्पष्ट ही है कि जो मुक्ति के लिए ध्यान लगाता है, वह उस जाने हुए को और अधिक जानने का ज्ञान उपार्जन करना चाहता है। आध्यात्मिक शक्ति का होना तभी सम्भव है, जब उत्तम और पवित्र विचारों का मनन किया जाय। वैशेषिकों का मत है कि इस शक्ति का संचय इच्छा की प्रबलता, मनोविश्लेषण और अनुकूल वातावरण के प्रभाव पर ही निर्भर करता है।

आल्डस हक्सले के मतानुसार हरेक व्यक्ति की वृत्ति के समान ज्ञान तो उसमें होता ही है और वृत्ति बहुत हद तक अपने-अपने वश में होती है। सन्त वही है, जो समझता है कि जीवन का प्रत्येक क्षण संकटमय है और ऐसा निर्णय करता है, जो उसे

तमस् और मृत्यु से बचाकर प्रकाश और अमृतत्व की ओर ले जाय।

संकटों का सामना करने के लिए जैसे कोई सैनिक युद्ध के लिए तैयारी करता है, वैसे ही एक सन्त अपने मन और शरीर पर नियन्त्रण करता है।

आज के गणतन्त्रों में स्वतन्त्रता और जिम्मेदारी की शिक्षा के साथ-साथ आतंक से पारतंत्र्य में ढाला जाता है। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री डा० माण्टेसरी ने लिखा है, "जो बच्चा आत्म-निर्भरता से स्वयं दायित्व वहन नहीं करता और अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण नहीं रखता, वह प्रौढ़ होकर दूसरों के नियन्त्रण पर ही निर्भर करता है और उनके चलाये ही चलता है। बच्चे को तर्क और न्याय के बिना कोई आज्ञा-पालन की शिक्षा देना उसे आगे जाकर पंगु और मतान्ध बनाना है।"

एकाधिपत्य राज्य, राजनीति को छोड़, शिक्षा और मनोविज्ञान द्वारा भी जमाया जा सकता है। सुग्गा बोली को तो दोहरा देता है, पर उसे समझता नहीं। ऐसे कितने महान् व्यक्ति हुए, जिन्होंने राजगद्दी पर बैठकर क्षतिकारक शक्ति से राज न चलाया हो ? शक्ति पाकर उसका दुरुपयोग न हो, यह समस्या आजतक हल नहीं हुई है। राजकीय चमक-दमक और शक्ति के लोभ का दमन करने की कोई अचूक दवा नहीं मिली। शक्ति का स्वभाव ही अमर्यादित प्रसार का है। वह दूसरी शक्ति से टक्कर खाकर ही रुकती है। इसलिए जिसे स्वतंत्रतापूर्वक रहना हो, उसे अपनी शासन-शक्ति एक ही हाथ में नहीं दे देनी चाहिए।

कुछ समय पहले गणतन्त्र-दिवस पर रेडियो पर अपना

संदेश प्रसारित करते हुए तत्कालीन राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने कहा था, "मनुष्यों को संगठन से न दबाया जाय, सत्ता थोड़े से हाथों में न रहे और प्रतिपक्षियों से घृणा करने की नीति हम न अपनायें। हम भारत को इसलिए प्यार करते हैं कि यहां सत्य और न्याय की पूछ है।"

जातीय एकता का अर्थ किसी एक मनुष्य की गुलामी और उसकी चौकड़ी का आधिपत्य भी हो सकता है। हक्सले का कथन है, "व्यवस्थित और सन्तुलित विभेद स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है। शक्ति की लालसा का कोई अन्त नहीं, इसलिए जिन्हें स्वतन्त्रता की रक्षा करनी हो, उन्हें शासक को लम्बे अर्से तक गद्दी पर नहीं रखना चाहिए।"

सौरोकिन नामक राजनीतिक लेखक के अनुसार, "राजनीति में कृत्य चाहे कानून, धर्म या नैतिकता के खिलाफ ही हो, वह उसे साध्य तक पहुंचने की साधना ही मान लेते हैं। शासकों की मुख्य विचारधारा के अनुसार नैतिकता के दो अलग-अलग मापदण्ड होते हैं। जो शासक के लिए मान्य है, वह शासित के लिए मान्य नहीं है।" कोई पूछे कि प्रजातन्त्र के शासक इस तरह का व्यवहार कैसे करते हैं ? फर्क इतना ही है कि प्रजातंत्र के शासक कानून का सहारा लेकर ऐसे कृत्यों को साध्य के साधनों के रूप में दबा देते हैं।

जहां विचार-स्वातंत्र्य है, वहां कुछ लोग ऐसे मिल ही जाते हैं, जो किंवदन्तियों के खिलाफ बुद्धि का व्यवहार करते हैं। ऐसे ही कतिपय लोगों के प्रयत्न से शासकों के रद्दोबदल करने की भावना पैदा होती है। देश के शासक या नेता स्वातंत्र्य-विचार को अपने लिए अक्सर घातक मानते हैं। उनके लिए यह जरूरी

है कि उनके पक्ष के नारों पर कोई विवाद न उठे । उन्हें यही अच्छा लगता है कि उनकी शक्ति को अधिक प्रचुर करने के लिए उन नारों को और भी पूर्णतया काम में लाया जाय । आम लोग बचपन से ही प्रचार की बातें सुनते रहते हैं। कहीं-कहीं स्कूलों में किताबें भी ऐसी ही पढ़ाते हैं और जब वे विद्यार्थी बड़े होकर काम पर आते हैं तो उन्हीं नारों से भरे अखबारों को पढ़-कर और रेडियो सुन-सुनकर अपनी स्वयं की युक्ति भूल जाते हैं।

प्रजातन्त्र में माना जाता है कि सबको वाक्-स्वातंत्र्य है और वे चाहे जो पूछ सकते हैं। पर दूसरे तरीकों से ऐसे प्रश्नों के दांत उखाड़ लिये जाते हैं। लोगों को बाहरी अविच्छिन्न उत्तेजना पर निर्भर करना सिखा दिया जाता है । नतीजा यह होता है कि लोग प्रचारात्मक बातों में पड़कर बुद्धि का उपयोग ही बन्द कर देते हैं।

जो विवेचन से काम नहीं लेते, उनकी बुद्धि भटकती रहती है और अपने साध्य से हटकर दूर चले जाते हैं। हो सकता है कि बहस में ये बाज़ी मार ले जायं, पर सत्य से काफी दूर पड़े रहते हैं। विश्लेषण खोकर मनुष्य एकाग्र बुद्धि से विचार करना छोड़ देता है और दिखावट में पड़ा रह जाता है ।

इसलिए जरूरी है कि शुरू से बिना विवेचन और तर्क के प्रचारात्मक बातें न मानने की आदत डाली जाय। आम तौर पर हम सुनते हैं कि अमुक काम जनता की भलाई के लिए किया जाता है । चाहे व्याख्यान हो, चाहे अखबार, पर जनता के नाम पर दुहाई दी जाती है। किन्तु यह 'जनता' है कौन ? कहां तक सबको 'एक जनता' के नाम से मिलाना सही है ? जनता की एक

ही राय होना भी क्या सम्भव है, और भलाई उन नारों से सचमुच जनता की होती है या यह शासक का ही मानना है ? सांवल, मंगतू, मनसुख से क्या राज्य एक अलग अनोखी वस्तु है ? क्या 'जय छाता' बोलने से वर्षा से बचाव हो सकता है ? यह आवश्यक है कि ऐसे नारों के बदले नारा लगाने वालों की कृतियों की तस्वीर बनाकर समझा जाय कि वह दृश्य कैसा लगता है। केवल नारों में चित्रित काल्पनिक सुखों से ही कोई सुखी नहीं होता।

'जय रामदास' चिल्लाने से कोई सन्त रामदास नहीं बनता, और न 'गीताजी' की आरती उतारने से गीता का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। श्रद्धेय के प्रति सच्ची श्रद्धा उसके गुणों और दोषों का विवेचन करके ही होती है। अन्ध-श्रद्धा से किसी का भला होना असम्भव है। ○

५ / गीता में व्यावहारिक ज्ञान

आध्यात्मिक साहित्य में भारतवर्ष का जो स्थान है, उस तक विश्व का कोई देश अबतक पहुंच नहीं पाया है। इस विषय में ब्रह्म-सूत्र और उपनिषद् तो अमर साहित्य हैं ही, किन्तु उनका निचोड़ गीता में आ गया है। उक्त ग्रन्थों में भगवद्गीता को सम्मिलित करके 'प्रस्थान त्रयी' यह नाम दिया गया है। गीता की महत्ता निम्न श्लोक में दी गई है :

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥"

अर्थात्, सारे उपनिषद् गौएं हैं, दूध दुहनेवाले गोपालनन्दन कृष्ण हैं, अर्जुन बछड़ा है, और प्रत्येक जिज्ञासु इस महान् गीतामृत दूध का पान करता है।

वेदान्त वेद का अन्तिम अंग है। केवल ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने के कारण वेदान्त वेद का अन्त या मथितार्थ अथवा निचोड़ बताया गया है। मुख्य उपनिषद् १० हैं और सब वेदों के अंगभूत हैं, श्रुतियां हैं।

गीता अध्यात्म का उपदेश तो देती ही है, हमें रोजमर्रा का व्यावहारिक ज्ञान सिखाकर हमारे जीवन को सोद्देश्य भी बनाती है। हम गीता के कुछ श्लोकों को देखें तो इस बात को सरलता से समझ सकेंगे।

"अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥"

कौरव-सेना तो पाण्डवों से करीब ड्यौढ़ी थी, फिर अपर्याप्त कैसे हुई ? कौरव-सेना कई भागों में बंटी थी। एक तरफ श्री-कृष्ण की सेना, दूसरी तरफ कौरवों की अपनी सेना और तीसरी तरफ अन्य सेनाओं का भी जमाव था। इसके अलावा कौरव-सेना के वीरों का संगठन भी ठीक नहीं था। कर्ण भीष्मपितामह के साथ लड़ना नहीं चाहते थे। द्रोणाचार्य कर्ण को सूत-पुत्र कह-कर हेय दृष्टि से देखते थे। शल्य पाण्डवों को विजयी होने का आशीर्वाद देते थे। इस तरह कौरव-सेना में संगठन की बड़ी कमी थी। दुर्योधन से यह बात छिपी न थी। इसलिए उसने अपनी सेना को 'अपर्याप्त' बताकर सबको ताकीद की कि वे सब मिलकर भीष्म की रक्षा करें।

बिना संगठन के किसी भी संस्था का काम ठीक तरह से नहीं चलता, चाहे वह व्यापारिक हो या कोई जातीय परोपकार की संस्था हो। कोई भी काम शुरू करने के पहले संगठन होना आवश्यक है।

किसी भी काम को करने के लिए मनोबल का होना भी जरूरी है। यदि मनोबल न हो तो सफलता मिलना कठिन है। मनोबल पैदा करना नेता या व्यवसाय के मालिक का काम है— किसी की पीठ ठोककर, अच्छे काम की सराहना करके, काम करने वाले की दिक्कत समझकर। उसके पूर्ण सहयोग के बिना कोई भी संगठन नहीं चलता। केवल यह मान लेना कि काम करनेवाला कुर्सी पर बैठा है, वह जरूर काम पूरा करेगा, इसमें धोखा है।

दुर्योधन की तरफ से लड़नेवाले काफी बड़े-बड़े शूरवीर थे, पर उसने दो-चार को छोड़ औरों के बारे में मान लिया कि वे मेरे लिए अपने प्राणों को त्यागकर लड़ेंगे। अंग्रेजी में इसे कहते हैं—'टेकन फॉर ग्रांटेड'। उसने कहा :

"अन्ये च बहवः शूरा मदर्थेत्यक्तजीविताः।
नाना शस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥"

इसके अलावा और भी अनेक शूरवीर हैं, जो तरह-तरह के शस्त्र चलाने में निपुण हैं।

इसके विपरीत, अर्जुन की ओर भी काफी योद्धा जमा हुए थे। पर उनकी क्या दिक्कत हो सकती है, उनका कौन सामना करेगा, यह जानना उसने बहुत जरूरी समझा और हृषिकेश श्रीकृष्ण से प्रार्थना की :

"हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥"

हे अच्युत ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच ले जाकर खड़ा कीजिये।

कोई भी काम शुरू करने के पहले दोनों तरफ की बातें समझना बहुत आवश्यक है। जो विवेक से काम करता है, वह दोनों पक्षों को समझता है। केवल यह मानकर चलना कि काम हो जायेगा, गलत होगा। अर्जुन ने तय किया कि दोनों सेनाओं के बीच खड़े होकर देखे कि कौन-कौन किससे लड़ता है। उसने दोनों तरफ की बात समझने की कोशिश की। कोई काम दोनों तरफ की बात जाने बिना सफल नहीं हो सकता।

एक पुरानी कथा है धर्मव्याध की। वह व्याध का काम करता था—मांस बेचा करता था, पर वह इतना ज्ञानी था

कि ऋषि-मुनि भी उससे ज्ञान का उपदेश लेने आते थे। एक मुनि के पूछने पर उसने बताया कि व्याध का पेशा उसके बाप-दादा करते आये थे। इसलिए स्वधर्म समझकर उसने इसे अपनाया, किन्तु वह हत्या के लिए किसी भी जीव को नहीं मारता था। ग्राहक की जितने मांस की मांग होती, उतना ही मांस वह लाता और खुद निरामिषभोजी था। अपने मां-बाप की सेवा करता था और दुकानदारी में यदि कुछ बचत होती तो उससे दूसरों की मदद करता था :

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥"

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि अपने धर्म के अनुसार नियत अर्थात् नियमित कर्म कर। कर्म न करने की अपेक्षा नियत कर्म करना कहीं अधिक अच्छा है। बिना कर्म के तो शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता।

जीवन-पर्यन्त कर्म कभी बन्द हो ही नहीं सकता। नित्य कर्म तो मनुष्य को करना ही पड़ता है। फिर यह कहना कि मैंने कर्म का त्याग कर दिया है, गलत होगा। कोई अपना पेशा बदल सकता है, किन्तु व्यापारी के घर में व्यापार का वातावरण रहता है, उसके पुत्र के लिए व्यापार करना एक जानी हुई बात होगी। व्यापारी का पुत्र शायद ही सफल शिक्षक या डाक्टर बन सके। पर यह तो एक विस्तार की बात हुई।

जीवन में दिक्कतें तो आती ही रहती हैं। व्यापार में भी उतार-चढ़ाव होता ही रहता है। ऐसे समय में हिम्मत न हार-कर दिक्कतों का सामना करना ही धर्म है। श्रीकृष्ण फिर कहते हैं :

"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।।"

स्वधर्म यानी अपने कर्तव्य को देखते हुए भी हिम्मत हार बैठना उचित नहीं है । क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध से बढ़कर और कोई कर्तव्य नहीं ।

जीवन में युद्ध तो सतत चलता ही रहता है, चाहे वह वकील हो, डाक्टर हो या व्यापारी हो, काम जमाने के लिए युद्ध करना ही पड़ता है और ऐसे समय में हिम्मत से दिक्कतों का सामना करना ही कर्तव्य है। जो सामना करने में नहीं हिचकिचाता, वही सफलता प्राप्त करता है ।

जीवन में सफलता पाने के लिए अपने-आप पर नियन्त्रण रखना भी आवश्यक है । जो मन के पीछे दौड़ता है, लोभ और क्रोध पर काबू नहीं रखता, उसे धोखा खाना पड़ता है ।

"यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।"

हे अर्जुन ! जो व्यक्ति मन द्वारा इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखता है, (मिथ्याचारियों की तरह सिर्फ इन्द्रियों का हठपूर्वक दमन करके मन द्वारा विषयों का स्मरण नहीं करता रहता) और अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियों को कर्मयोग में लगाता है, वह विशिष्ट व्यक्ति कहलाता है ।

मन पर नियन्त्रण रखना कठिन तो है, लेकिन जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है । आगे गीता में फिर कहा है :

"यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।"

हे कौन्तेय ! मनुष्य चाहे कितना ही यत्न करे, कितना ही विद्वान् हो, ये प्रबल इन्द्रियां बलपूर्वक मन को (विषयों की तरफ) खींच लेती हैं।

मनुष्य को जब किसी बात की आसक्ति हो जाती है और काम नहीं बनता, तब उसे क्रोध आने लगता है। किन्तु क्रोध में वह बुद्धि खो बैठता है और भले-बुरे की पहचान भी।

"क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।"

अर्थात्, क्रोध से सम्मोह यानी अविवेक, मूढ़-भाव पैदा हो जाता है, सम्मोह से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि के नष्ट हो जाने से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

गीता में बुद्धि पर जोर दिया गया है। मनुष्य में और पशु में यही फर्क है कि मनुष्य में सोचने की शक्ति है, बुद्धि है। यदि बुद्धि नहीं रहती तो मनुष्य, मनुष्य नहीं रहता। दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा है—"बुद्धौ शरणमन्विच्छ," अर्थात् बुद्धि में शरण ग्रहण कर।

क्रोध मनुष्य का सबसे बड़ा दुश्मन है। यदि काम न बने तो ठण्डे दिमाग से सोचकर निश्चय करना चाहिए। क्रोध से और ज्यादा बिगाड़ होना सम्भव है।

"व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।"

—हे कुरुनन्दन ! इस कर्म-मार्ग में व्यवसाय-बुद्धि अर्थात् कार्य और अकार्य का निश्चय करनेवाली बुद्धि को एकाग्र रखना पड़ता है। जिनकी बुद्धि में इस प्रकार निश्चय नहीं होता, उनकी

बुद्धि अनेक शाखाओंवाली और अनेक प्रकार की होती है।

व्यवसाय का अर्थ है प्रयत्न, व्यवसायात्मिका बुद्धि का अर्थ हुआ प्रयत्नपरक बुद्धि। एकाग्र बुद्धि से काम न किया जाय तो वह प्रयत्न सफल नहीं होता।

यहां एक प्रसंग का उल्लेख अनुचित न होगा। जब द्रोणाचार्य अपने शिष्यों की परीक्षा लेने लगे, तो उन्होंने एक पक्षी बनाकर पेड़ पर टांग दिया और शिष्यों से कहा कि इसकी आंख पर निशाना लगाओ। दुर्योधन आदि इस परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुए। जब अर्जुन की बारी आई तो गुरु ने अर्जुन से प्रश्न किया, "अर्जुन, क्या दिखाई देता है ?" अर्जुन ने बताया, "पक्षी का सर।" गुरु ने कहा, "तो निशाना साधो।" फिर पूछा, "अब क्या देखते हो ?" अर्जुन ने बताया, "पक्षी की आंखें।" और तीर छोड़ दिया। तीर ठीक आंख के निशाने पर लगा। अर्जुन ने अपने को इतना एकाग्र कर लिया कि उसे और कुछ दिखाई देना बन्द हो गया। इससे इतना ही अर्थ लेना चाहिए कि बुद्धि दूसरी तरफ डावांडोल न हो। जिस काम को करना हो, उसको एकाग्र बुद्धि से सोचकर निश्चय करना चाहिए।

"तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥"

—इसलिए तू योग में जुट जा। योग का नाम है कर्मयोग, सब कामों को कुशलता से करना।

जो स्वधर्म में लगकर कुशलता से काम करता है, वह कर्मयोगी है।

सामाजिक दायित्व भी हमें न भूलना चाहिए। सामाजिक सेवा, जैसे स्कूल और अस्पताल बनाना, अंधों, अपंगों के लिए शालाएं बनाना तो जरूरी है ही, लेकिन हमारे जैसे गरीब देश

में लोगों के लिए अधिक-से-अधिक काम करने की व्यवस्था करना, अनुसंधान करना, अपनी जरूरत के अनुसार उत्पादन की नई विधियां अपनाना, लागत मूल्य को कम करना, किस्म सुधारना, कर्मचारियों को तथा न बस सकनेवालों को मकानों की सुविधा देना भी सामाजिक दायित्व का अंग है।

इस विषय पर श्रीकृष्ण कहते हैं :

"इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्त्तेयज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्योः यो भुंक्ते स्तेन एव सः ।।"

—यज्ञ की भावना—अर्थात् निष्काम कर्म से प्रसन्न होकर तुम्हारे पूजनीय तुम्हें इच्छित पदार्थों को देंगे। बुजुर्गों—देवों—के दिये हुए इन पदार्थों का भाग दूसरों को दिये बिना जो अकेला उनका भोग करता है वह चोर ही है।

और अन्त में :

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।"

—जहां योगेश्वर कृष्ण हैं, अर्थात् जहां धर्म है, और जहां धनुषधारी अर्जुन हैं—केवल अर्जुन नहीं, 'धनुषधारी अर्जुन' अर्थात् कर्म में रत—कर्म करनेवाला है। विजय का अर्थ है हमारी वृत्तियां हमारे काबू में हों, गलत काम न करें तो श्री-भूति अर्थात् वैभव आता है। यही अचल नीति है, यही निश्चित मत है। ○

६ / निष्काम कर्म क्या और क्यों ?

गीता का व्यावहारिक दर्शन हिन्दू-धर्म तक सीमित नहीं है। यह तो सारे विश्व के लिए भारत की अद्वितीय देन है और सम्पूर्ण मानव समाज को प्रभावपूर्ण ढंग से बताती है कि उसका कर्त्तव्य क्या है, जो उसे अभ्युदय और निःश्रेयस का राज-मार्ग दिखा सके।

कर्म और अकर्म का, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का प्रश्न मानव के मस्तिष्क को अनादिकाल से मथित करता आया है। प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा भोग और त्याग के दो मार्ग, इसी प्रश्न के स्वाभाविक परिणाम बने। एक ने भौतिक सुख के असीम साधनों को, आंख मूंदकर दूसरे को पीड़ा पहुंचाकर भी, संचित कर लेने में जीवन की सार्थकता समझी। दूसरे ने विधाता की इस मनोरम सृष्टि को मिथ्या और असार ठहराकर इसके प्रपंचों से अलग रहना सर्वोत्तम मार्ग समझ लिया। किन्तु शान्ति मानव को इन दोनों ही मार्गों से नहीं मिली। वह भटकता रहा। सच्ची शान्ति और आनन्द पाने के लिए अधीर और व्याकुल रहा।

गीता ने प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा भोग और त्याग के दोनों अतिवादों में समन्वय स्थापित किया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वधर्म अर्थात् स्वभावानुकूल प्रवृत्ति को अनिवार्य बताया, परन्तु साथ ही आदेश दिया, "कर्म को अनासक्त होकर करो, उसके फल की आकांक्षा न करो, क्योंकि कर्म के प्रति आसक्ति

ही दुःख और अशांति का मूल है।" मनुष्य फलासक्ति को त्यागकर, कर्त्तव्य-कर्म में जुटकर, सुख-दुःख के ऊपर उठ जाता है, यों तो गीता ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्म का फल निश्चित समय पर अवश्य मिलेगा। "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विदन्ति मानवः।"

महाभारत का युद्ध फल-प्राप्ति के लिए ही हुआ। अर्जुन को जब इस मोहजनित विवाद ने घेर लिया कि मैं सगे-सम्बन्धियों से कैसे लड़ूं, तो श्रीकृष्ण ने उसे समझाया—फल की चिन्ता छोड़कर, कर्त्तव्य समझकर ही, युद्ध करो। आखिर मनुष्य जो कर्त्तव्य कर्म करता है, उसकी प्रेरणा भी तो कोई करता है। निस्सन्देह ईश्वर ही प्रेरणा का स्रोत है और वही साधन बताता है। यह निश्चित है कि लोक-कल्याणकारी कर्म करने वाला कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता—"नहि कल्याणकृत्-कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।"

यह भी स्पष्ट है कि कौशलपूर्वक किया गया कर्म ही योग है और उसका फल भी मधुर होता है। लोकमान्य तिलक ने गीता के इसी आदेश को लक्ष्य करके अपने 'गीतारहस्य' ग्रन्थ का नाम 'कर्म-योग-शास्त्र' रक्खा है। गीता के इस श्लोक को कर्मयोग का केन्द्र-बिन्दु माना गया है :

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥"

—तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, उसका फल चाहने में कदापि नहीं। तुम कर्म के फल की वासना मत करो और कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति न हो।

फल पाने की आकांक्षा मन में यदि रहती है तो मनुष्य भले-

बुरे का ज्ञान भूल जाता है। येन-केन-प्रकारेण फल प्राप्त करने की लगन उसे लगी रहती है।

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ड्मण्ड और डाक्टर मैलोन ने लिखा है, "व्यापारिक व्यक्ति की प्रारंभिक अन्तश्चेतना में 'सम्पत्ति-लाभ होगा', यही सबसे सबल भाव रहता है, परन्तु उसके चेतन कार्य-प्रवाह में यह भाव एकदम गौण हो जा सकता है। दूसरी ओर यदि मान लिया जाय कि प्राप्ति की कामना ही सबसे प्रबल है और वह सफलता का मूल है तो यह सत्य है, किन्तु सारहीन है। कारण, इस प्रमुख तथ्य को भूल जाना ही भ्रमात्मक है कि लक्ष्य की कामना क्यों और किस प्रकार उत्कट हो जाती है? उत्तर यह है, पूर्णता की प्राप्ति की कल्पना के प्रवाह के साथ स्वयं की तुलना, जो कि ऐसी परिस्थिति में वांछनीय है, और कामना के अनुकूल आत्मपूर्णता की उपलब्धि। जब कार्य पूर्ण हो जाता है और जब व्यक्ति यह देखता है कि उसने जिस आनन्द की कल्पना भूतकाल में की थी, वह भविष्य के लिए नहीं है, तब उन आधारभूत प्रेरणा-स्रोतों का असली रंग सामने आ जाता है। तब जिसको उसने कला का उत्कृष्ट प्रेम माना था, उसे स्वार्थ-सिद्धि का एक रूपक मानने में समर्थ हो जाता है, अथवा जिसको प्रकृति का स्वाभाविक चरमोत्कर्ष माना था, वह अप्रिय के प्रति साधारण अनाकर्षण प्रतीत होता है।"

मनुष्य यह सोच सकता है कि जब फल मिलने में सन्देह है तो कर्म करने से क्या फायदा! लेकिन ऐसा सोचना गलत होगा, क्योंकि जबतक मनुष्य का जीवन है और मन दौड़ लगाता है, तबतक वह एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।"

निष्काम कर्म का अर्थ यह कदापि नहीं है कि बिना विचारे यंत्रवत् कर्म किया जाय। कर्म करने से पहले यह जरूर विचार कर लेना चाहिए कि कर्म का प्रयोजन क्या है और उसे किस तरह पूरा किया जाय। किन्तु अर्जुन की तरह कर्त्तव्य निर्धारित करके, बिना फल की इच्छा के, अर्थात् बिना आसक्ति के कर्म करे और इस बात का ध्यान रक्खे कि हम आसक्ति से कोई गलत काम न कर बैठें।

कल्याणकारी कर्म कौन-सा है, यह मनुष्य स्वयं ही निश्चय कर सकता है। कर्म के साथ आत्मतुष्ट हो, अन्तरात्मा प्रसन्न हो, तभी वह ठीक कर्म समझना चाहिए। जिस काम में सन्तुष्टि का अनुभव न हो, वह सत्कर्म नहीं है और उससे मन शान्त नहीं होता। "प्रशान्तमनसं ह्येन योगिने सुखमुत्तमम्," अर्थात् जिसका मन भली भांति शान्त हो गया है, उसको निश्चय ही उत्तम सुख मिलता है।

कर्म-मार्ग के निःसंशय और निर्विवाद महत्त्व पर जोर देते हुए भगवान कृष्ण का आदेश है :

"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।"

—अनासक्त होकर निरन्तर कर्त्तव्य-कर्म को अच्छी तरह तुम करो, क्योंकि अनासक्त व्यक्ति कर्म-मार्ग पर चलता हुआ परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

व्यक्ति अपना स्वार्थ छोड़कर नहीं रह सकता। अपना जीवन-निर्वाह करना भी तो स्वार्थ है। पर निष्काम का अर्थ है स्वार्थ को परार्थ में डुबो देना, जैसा कि ईशोपनिषद में कहा है, "तेन त्यक्तेन भुंजीथा" अर्थात्, जो कुछ परमेश्वर से मिले, उसे

उसका प्रसाद समझकर भोगो, ग्रहण करो। यदि मनुष्य निःस्वार्थ होकर कर्म करता है, तो उसे फल की चिन्ता नहीं रहती। फल की चिन्ता हटते ही उसका कर्म, निष्काम हो सकता है, स्वार्थरत नहीं होता।

गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों मार्गों का उल्लेख है। अपनी-अपनी प्रकृति या स्वभाव अनुसार किसी भी मार्ग पर चला जा सकता है। निर्दिष्ट स्थान एक ही है, उसपर पहुंचने के लिए तीनों मार्गों में स्पष्ट समन्वय किया गया है। ज्ञान-मार्ग पर यह श्लोक कितना स्पष्ट प्रकाश डाल रहा है :

"अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वंज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥"

—चाहे तू सब पापियों की अपेक्षा सबसे बड़ा पापी हो, फिर भी तू ज्ञान की नौका द्वारा पाप के समुद्र को पार कर जायेगा। ज्ञान के बिना निष्काम कर्मयोग नहीं सधता। कर्म का अन्तिम उद्देश्य ज्ञान प्राप्त कर लेना ही है।

"निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत् ॥"

ऐसे ज्ञानीजन अविनाशी परमपद को प्राप्त कर लेते हैं, जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्ति-दोष को जीत लिया है, अध्यात्म में निरन्तर जो रम रहे हैं, जिनकी वासना पूरी तरह से नष्ट हो गयी है, और जो सुख और दुःख के द्वन्द्वों से मुक्त हो गये हैं।

फल पाने की इच्छा का परित्याग कर कर्म के प्रति अनासक्त रहना आसान नहीं है। 'पद्मपत्रमिवांमसा' का व्यवहारतः अभ्यास करना हंसी-खेल नहीं। भक्तिपूर्वक ज्ञान-मार्ग पर चल

कर ही अलिप्त भाव से निष्काम कर्म किया जा सकता है। जीवित उदाहरण जहां तक हमें ज्ञात है, नहीं के बराबर है। राजा जनक बहुत ज्ञानी था। मानस के श्रीराम तो अवतार ही थे। वाल्मीकि के राम भी महापुरुष मर्यादा पुरुषोत्तम थे। इनका अनुकरण करना तो असम्भव ही मानना चाहिए। फिर भी मनुष्य प्रयत्नशील रहकर यदि थोड़ा भी सफलता प्राप्त कर लेता है तो वह सराहनीय है। ○

७ / विराट् रूप—अद्भुत

जगत् की नियमितता घड़ी की तरह चलती है—रात्रि के बाद दिन, शीत के बाद ग्रीष्म, अरुणाभ सूर्योदय, तारों-भरा आकाश, रात्रि की लहरों पर प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की मनो-हारिणी आभा, फूलों का खिलना, ऋतु के फलों का समयानुसार बढ़ना—इनके मूल में एक यथार्थ सत्ता का अनुभव होता है।

डॉ० आइंस्टीन भी सापेक्षवाद के सिद्धान्त की खोज करते हुए प्रकृति के सौन्दर्य पर इतने ही चकित थे, यद्यपि स्रष्टा की परिकल्पना विज्ञान का अधिकृत विषय नहीं है। उसे प्रमाण चाहिए। प्रकृति-विषयक जिज्ञासाओं के समाधान से परमात्मा के आभास का मार्ग खुलता है। उनका कहना है, "सृष्टि की धार्मिक कल्पना वैज्ञानिक खोज का सबसे शक्तिशाली और उदात्त प्रधान स्रोत है। मेरा धर्म असीम परमात्मा की श्रद्धा-पूर्वक सराहना करना है। हम अपने दुर्बल मन से सृष्टि का जो अल्प दर्शन कर पाते हैं, उसमें उसकी सत्ता की झलक है। गूढ़ सृष्टि में परम विवेचन-शक्ति की विद्यमानता में गहन भावात्मक विश्वास ही मेरा ईश्वर है।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर जगत् के आश्चर्यों पर मुग्ध हैं। यत्र-तत्र-सर्वत्र फूल, पौधों, सूर्य, चन्द्र, तारों आदि में वह परमात्मा का ही अनुभव करते हैं। उनकी कविताएं और रचनाएं उनके दिव्य रूप की आराधना से परिपूर्ण हैं। 'क्रीसेंट मून' में वह

कहते हैं, "उसने शत-शत चौराहोंवाली इस भूमि पर अवतार लिया है।"

सर जगदीशचन्द्र बसु जगत् के आश्चर्यों से अभिभूत थे। उन्होंने पौधों में जीवन के कम्पन का अनुभव किया और स्वयं ईश्वर की महिमा कहकर प्रकृति के सौन्दर्य की सराहना की।

उपनिषद् इस बारे में एकदम स्पष्ट है। यह जगत् 'उसका' है। वास्तव में 'वही' जगत् है। (बृहदोपनिषद्-१३)। जगत् ईश्वर के सत् से रचा हुआ है (मुंडकोपनिषद्) वेद सृष्टि की रचना के बारे में कहते हैं, "तब कोई जीवन न था, न वायु थी, न उसके आगे फैला आकाश। क्या छिपा था? एक गूढ़ जिज्ञासा।" उत्तर मिला, "वह सर्वोच्च आकाश में बैठा सबका सर्वेक्षण करता है।" हमको जगत् की, उसके आश्चर्यों, पक्षियों, पशुओं, वनस्पति तथा सर्वत्र विभिन्न रूपों में बिखरे मानवों की, सृष्टि के बारे में हर प्रकार के विवरण मिलते हैं।

सौरमण्डल ग्रहों का एक परिवार-समूह है। मध्य में स्थित सूर्य की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति से ये ग्रह आपस में बंधे हुए हैं। इनमें चार ग्रह पृथ्वी से कहीं अधिक बड़े हैं। इस मण्डल का व्यास कम-से-कम दस अरब मील है; लेकिन यह निकटतम तारे की दूरी से भी, जो ढाई हजार अरब मील है, हमारी पृथ्वी से पेंतीस हजार प्रकाश वर्ष दूर है।

सभी ने इन्द्र-धनुष देखा है। अधिकांश व्यक्ति जानते हैं कि जब सूर्य का प्रकाश त्रिपार्श्व से होकर गुजरता है, तो वह इन्द्र-धनुष के रंगों में बिखर जाता है। हर रंग का अलग तरंग दैर्घ होता है। इनका विस्तार सबसे कम तरंगदैर्घ के कासनी रंग से सबसे अधिक तरंगदैर्घ के लाल रंग तक होता है।

निर्मल रातें भी, जब आकाश मखमली श्याम रंग का होता है और तारे हीरों की तरह जगमगाते हैं, गम्भीर निरीक्षण के लिए प्रायः व्यर्थ होती हैं। तारों के बिम्ब मच्छरों-जैसे नाचते हैं और ग्रहों के मुख के चिन्ह टिमटिम करती धुंधलाहट में खो जाते हैं। हां, शुक्र अथवा मंगल से देखने पर अत्यन्त मनोहारी दृश्य लगता होगा।

छोटा ग्रह चन्द्रमा अपने से बड़े ग्रह पृथ्वी का आकाश में पीछा करता है—कभी उससे आगे निकल जाता है, कभी उससे पीछे रह जाता है। चन्द्रमा विचित्र ग्रह है। उसके एल्फोसस गर्त्त के मध्य में स्थित चोटी कुछ अजीब लाल रंग लिये हुए है, हालांकि पूरे चन्द्रमा से धवल प्रकाश आता है।

शुक्र का तल यद्यपि बहुत गरम है, करीब चालीस किलो-मीटर ऊपर धुएं के बादल से आच्छादित है, जिससे उसकी गर्मी बाहर निकल नहीं पाती।

बृहस्पति बारह वर्षों में एक बार सूर्य की परिक्रमा करता है; जबकि पृथ्वी एक वर्ष में ऐसा करती है। ऐसे प्रमाण मिले हैं कि बृहस्पति को सूर्य से जो ऊष्मा प्राप्त होती है, उससे अधिक वह विकिरण द्वारा गंवा देता है। इसलिए लगता है, वह अपनी ऊर्जा भी पैदा कर रहा है। साधारणतः उसकी गतिविधियां ग्रह की अपेक्षा तारे से अधिक मिलती हैं।

नीचे जमीन पर मरुभूमि एक और ऐसी संरचना है, जहां हमें तरह-तरह की वस्तुएं मिलती हैं। विरोधाभास की बात यह है कि जो मरुभूमि अपनी जलहीनता के लिए सबसे अधिक ख्यात है, उसकी रचना में पानी का प्रमुख योग होता है। वर्षा का पानी और बर्फ पिघलकर मरुभूमि की वनस्पतिहीन चट्टानों

के छिद्रों और दरारों में घुस जाते हैं। पानी मरुभूमि के घटते-बढ़ते तापमानों में जमकर और पिघलकर चट्टानों को खण्ड-खण्ड कर देता है।

मरुभूमि स्वयं एक रहस्य है। उदाहरण के लिए यदि ऊटा की ब्राइस घाटी में जायं तो आप वहां चूने के पत्थर के पठार का गांव जैसे देखेंगे। उनका यह रूप किसी समय वहां बहने-वाली नदियों ने मुलायम चट्टानों को काटकर बनाया है। अधिक मजबूत मीनारें खड़ी रही हैं। वे किले की मजबूत दीवारों की तरह लगती हैं। यद्यपि मरुभूमि में प्रायः वनस्पति नहीं होती, तथापि वहां रहनेवाले कुछ जीवों के लिए जीवन का स्रोत मृत्यु को सदा-विद्यमान खतरा है।

सबसे आसानी से उगनेवाला पौधा कैक्टस है। निर्मम ताप और जलहीनता की अग्नि-परीक्षा में जीवित रहने के लिए अवर्षाकाल में एक प्रकार की आंशिक या पूर्ण निद्रा में लीन होना आवश्यक है। तब कैक्टस मुरझाये या सूखे लगते हैं। कुछ मरुभूमि-क्षेत्र अल्प वर्षा से ही बागों की तरह खिल उठते हैं। मोजेब मरुस्थल में डैडेलियन और दक्षिण केलीफोर्निया के बोरनो मरुस्थल बरवीना के फूलों से भर जाते हैं।

शुष्क कैक्टसों के अतिरिक्त मरुभूमि में रसदार कैक्टस भी उगते हैं। उनमें से अनेक की चमकीली बड़ी-बड़ी पत्तियां होती हैं। वे चटकीले फूलों से सज जाते हैं। आम तौर से ऐसा प्रतीत होता है कि मरुभूमि सभी प्रकार के जीवन की विरोधी है—पानी का अभाव, दूर-दूर तक पेड़-पौधों का चिन्ह नहीं, और सूर्य के कठोर ताप से बचने के लिए कहीं छाया नहीं। फिर भी उसमें पांच हजार प्रकार के विशेष कीड़े रेंगनेवाले, स्तनपायी जीव

और पक्षी पलते हैं। बैक्टीरिया और दूसरे अनगिनत जीवाणुओं की तो बात ही नहीं। वहां छिपकली, सांप, कंगारू, लोमड़ी और लाल चोंचवाला गिला कठफोड़वा मिलते हैं, जो कैक्टस के गूदे में छिद्र कर अपने घोंसले बना लेते हैं। छिद्र अन्दर से सूखकर बढ़िया घोंसला बन जाता है। कठफोड़वा की तरह छोटे उल्लू भी कैक्टस के छिद्रों में छिपे रहते हैं और रात में चूहों का शिकार करते हैं।

कहा जाता है कि झींगी मछली के अण्डे मरुभूमि की शुष्क झीलों के तल में कीचड़ में लिपटे हुए सौ वर्षों तक सुरक्षित रह जाते हैं।

और, हम महासागरों को भी नहीं भुला सकते। पृथ्वी का सत्तर प्रतिशत भाग पानी है। उसमें अपार सम्पत्ति भरी पड़ी है। रेडियम और सोने से लेकर हाइड्रोजन (उद्‌जन) नाइट्रोजन (नत्रजन) और आक्सीजन (ओषजन) तक हम उससे प्राप्त कर सकते हैं। समुद्र के गर्भ में एक अपनी ही दुनिया है। उसमें हजारों प्रकार के पौधे, मूंगे, मछलियां और दैत्याकार जीव हैं। कमनीय समुद्री घास, रंग-रंग के मूंगे और सुन्दर रंगोंवाली मछलियां भी हैं। साथ ही, ह्वेल-जैसे दैत्य जीव, शार्क और दूसरी बहु-प्रकार की मछलियां हैं, जो भोजनार्थ अपने शत्रु को मारने के लिए विष छोड़ती रहती हैं। चालीस प्रकार की सील मछलियां हैं। उनमें एक चीता-सील कही जाती है। वह दक्षिण ध्रुव प्रदेश में मिलती है। बारह फुट लम्बी होती है और दूसरी छोटी सीलों का शिकार करती हैं। उत्तरी ध्रुव-सागर में वालरस मिलता है। फिर डोलफिन है, जो मछलियों में बुद्धिमान कही जाती है। उत्तरी ध्रुव सागर में श्वेत हिमभालू, जिसका

भार कभी-कभी एक टन तक होता है, प्रवहमान हिम-चट्टानों पर रहता है और मछलियां पकड़ने के लिए सागर में कूद जाता है और तैर लेता है। तापमान जमाव-बिन्दु से बहुत नीचे होते हुए भी उसका शरीर गरम रहता है। सागर-तल पर एक ओर बड़े-बड़े हिम-खण्ड मिलते हैं, तो दूसरी ओर उष्ण जल की धारा बहती है। हमारी पृथ्वी पर भूमि नहीं होती, तो भी समुद्र सारी दुनिया को खिलाने में समर्थ था, और पश्चिमी प्रशान्त सागर में मारियाना ट्रेंच-जैसे क्षेत्र हैं, वहां पानी इतना गहरा है कि विश्व का सर्वोच्च पर्वत एवरेस्ट उसमें पूरा समा जाय और उसका कोई पता भी न चले।

मोरेईल मछलियां मूंगे के द्वीपों की दरारों में छिपी रहती हैं। वे छिपकर घात करती हैं और समुद्री सांपों के नाम से जानी जाती हैं, क्योंकि उनके छिद्रों में गलती से प्रवेश करने पर वे मछलियों के सिर अथवा मानव के हाथ-पैर काट ले जाती हैं।

मानव सागर के अनेक रहस्यों की खोज कर चुका है, फिर भी अभी सभी रहस्य नहीं खुल पाये हैं और वे अप्रकट ही हैं।

मानव के इस धरती पर अवतरित होने के समय तक पर्वतों को अस्तित्व में आये काफी समय व्यतीत हो चुका था। वे सभी रूपों, आकार और जलवायु में मिलते हैं। हिमालय के निर्मल वायुवाले विशिष्ट हिम-मंडित उत्तुंग शिखर, कुछ नीचे फूलों की घाटियां, हरे-भरे पर्वतों पर पत्तों से झर-झर करता पानी। आल्प्स की घाटियों में रंग-रंग के चमकीले फूल मिलते हैं। इसके विपरीत, मरुभूमि के तीक्ष्ण नीरस पर्वत हैं। निचली ढलानों पर विरल वनों का स्थान लकड़ी प्रदान करनेवाले सघन और विशाल वृक्ष ले लेते हैं।

किन्तु मानव के लिए पर्वतों में बहुविध आकर्षण है—आर्थिक लाभ, वैज्ञानिक अनुसंधान, सौन्दर्यान्वेषण की भावना से केवल भ्रमण और मोक्ष की प्राप्ति। पंच पाण्डव नश्वर संसार त्यागकर चिरंतन शान्ति के लिए हिमालय पर्वत की ही शरण में गये और वहां अक्षय हिमराशि में विलीन हो गये।

यद्यपि हिमालय अपेक्षाकृत नवीन पर्वत कहा जाता है, तथापि उसकी निचली ढलानों पर रमणीय हरिताभ गोलाकार पहाड़ियां और हरी-भरी घाटियां हैं, जिन्हें मन्द और क्षिप्रगति से बहनेवाली सांप की तरह बल खाती धाराएं पार करती हैं। कंचनजंघा में सूर्योदय का दृश्य मन को हर लेता है। यदि पर्वतों पर बर्फ न होती, तो सिंचाई की बात क्या, मनुष्य-जाति को पीने तक के लिए पानी सुलभ न होता।

आग और लावा उगलते हुए ज्वालामुखी हैं, जीवनदायी पानी ले जाते हुए हिमालय शृंग हैं। सौन्दर्य के साथ-साथ विनाश है। हिमालय का सौन्दर्य भुलाया नहीं जा सकता। बर्फ में से यात्रा करते हुए अकस्मात् फूलों से लदे हेमकुण्ड जैसे स्थानों के दर्शन होते हैं। वास्तविकता यह कही जाती है कि यूरोप के अधिकांश फूल इसी स्थान से गये हैं।

ज्वालामुखी यायावर पर्वत है—विकराल और सुन्दर, रहस्य-मय और परिवर्तनशील। वे आम पर्वतों के व्यवहार को नियमित करनेवाले बहुत कम नियमों का पालन करते हैं। आम पर्वत बढ़ते और घटते दिखाई नहीं देते; किन्तु ज्वालामुखी पर्वत आकस्मिक आग्नेय-उथल-पुथल से जन्म लेने के नाते गर्जन-तर्जनवाली प्रकृति का परिचय देते हैं। कभी एक वर्ष में ही वे एक हजार फुट से ऊंचे उठ जाते हैं। कोई भी दो ज्वालामुखी

पर्वत एकसमान नहीं होते।

पर्वतों पर असंख्य प्रकार के पशु-पक्षी मिलते हैं। ऊंचे पर्वतों में भी सारे वर्ष छोटे-छोटे जीवों की गुंजार रहती है। एवरेस्ट के उस ब्रिटिश पर्वतारोही के आश्चर्य की कल्पना कीजिए, जिसे बाईस हजार फुट की ऊंचाई पर उछलनेवाली मकड़ियां मिलीं।

फिर जीवन से ओतप्रोत रमणीय झीलें हैं। शैवाक का परिधान ओढ़े हरीतिमा की शैया पर झूलती हुई गोठदार झाड़ियों के झुरमुट हैं, बांसों के विशाल वन हैं, घास के प्रकार का एक बांस है, जो एक दिन में तीन-चार फुट तक बढ़ सकता है और दो मास में सौ फुट की ऊंचाई तक पहुंच जाता है।

कहते हैं, हिमालय की ऊंचाइयों में यती का वास है; किन्तु अभीतक यहां-वहां उसके पद-चिह्न ही मिले हैं, वह मनुष्य की दृष्टि से ओझल रहा है।

जोशीमठ से आगे जाने पर छज्जों की तरह ओट किये हुए पर्वतों के दर्शन होते हैं, जो आपके सिर पर सायबान-जैसा बना लेते हैं। पास ही बहती अलकनन्दा मनोहारी दृश्य उपस्थित करती है। कुछ स्थानों पर चमकीले लाल, पीले और नारंगी शैवाकों से सजे दर्रे हैं। ये वास्तव में मनमोहक दृश्य हैं।

लेकिन साथ-ही-साथ सर्वत्र संकट भी घात में रहते हैं। भू-स्खलन और बड़ी-बड़ी चट्टानों के गिरने से उनके निकट से गुजरनेवाले लोग काल के गाल में समा जाते हैं। हिमपात होने पर बड़े-बड़े हिम-खण्डों से घाटी के गांव-के-गांव नष्ट हो जाते हैं। अतः मानव ने जहां पर्वतों को सदा आदर की दृष्टि से देखा है, वहां वह उनसे डरता भी रहा है।

'पुरुष सूक्त' का पहला मंत्र है :

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्
स भूमि सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठ दशांगुलम् ।"

अर्थात्, सर्व-व्यापक परमात्मा इस विश्व में सर्वत्र व्याप्त है । इस पृथ्वी के प्राणियों के सिर, पैर और नेत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां उस विराट् के अवयव हैं । वह सब जगह पूर्णव्याप्त रहता हुआ भी प्राणी के दश अंगुली हृदय में विद्यमान है ।

पृथ्वी-स्थल पर क्या-क्या है, उसके बारे में अबतक काफी प्रकाश डाला जा चुका है । यहां विचरण करनेवाले अगणित जीव-जन्तुओं और पक्षियों के सम्बन्ध में भी काफी लिखा जा चुका है । ये बातें हमें चकाचौंध में डाल देती हैं । इस पृथ्वी के बारे में श्रीकृष्ण ने कहा है, "एकांशेन स्थितां जगत्" अर्थात् एक छोटे से अंश पर यह पृथ्वी टिकी है । फिर अनन्त ब्रह्माण्ड के बारे में तो हमें कुछ भी जानकारी नहीं है ।

आकाश-गंगा नित्य हमें दिखाई पड़ती है । उसमें लाखों तारे हैं । उनमें सूर्य भी हैं और उनके इर्द-गिर्द जीवन से मुखरित लोक भी हैं । करोड़ों मील दूर होने के कारण उसके रहस्य की थाह हमें मिलनी अभी तो मुश्किल ही जान पड़ती है ।

अपना सूर्य महाकाय नहीं है, अपितु अन्य महाकाय और अतिमहाकाय के मध्य एक बौना मात्र है । हमें जो आकाश-गंगा दिखाई देती है, उसमें खगोल-शास्त्रियों की जानकारी में प्रायः पच्चीस अरब तारे सम्मिलित हैं । आकाश-गंगा के मध्यवृत्त से हमारी पृथ्वी अनुमानतः पैंतीस हजार प्रकाश-वर्ष दूर है । अपना सौरमण्डल उसके चारों ओर घूमता है । आकाश-गंगा में कई

नक्षत्र सूर्य हैं, जिनके चारों ओर कई पृथ्वियां हैं। हमें यह पता नहीं कि उनमें किस प्रकार का जीवन सम्भव है।

वैज्ञानिकों ने अभीतक इतना पता लगाया है कि हमारी दृष्टि-शक्ति से परे ऐसे नक्षत्र हैं, जो ढाई सौ करोड़ प्रकाश-वर्ष दूर हैं। जिस नक्षत्र से प्रकाश इतने दीर्घकाल पूर्व प्रारम्भ हुआ था, हमें पता नहीं कि ऐसे नक्षत्र अभीतक विद्यमान हैं, अथवा नष्ट हो गये। उसके परे ब्रह्माण्ड कहां तक फैला है, अभीतक हमें अज्ञात है।

एक और बात, जिसका वैज्ञानिकों ने पता लगाया है, वह यह है कि वे 'क्वासार' नामी सूर्य हैं, जो अग्नि के महाकाय पिण्ड हैं और जिनसे अपने सूर्य की तुलना में करोड़ों गुना अधिक प्रकाश उद्भूत होता है।

"दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता,
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भास्तस्य महात्मनः।"

अर्थात्, यदि आकाश में एक हजार सूर्यों की आभा एक-साथ दमक उठे, तो वह आभा भी उस महात्मा की आभा जैसी शायद ही हो।

ये सूर्य हमसे प्रकाश की आधी गति से दूर होते जा रहे हैं। हमें यह पता नहीं कि उनके चारों ओर पृथ्वियां हैं या नहीं और यदि हैं तो उनका क्या स्वरूप है? और उससे भी आगे क्या है, वह कहां तक चलते जायेंगे?

"अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्,
पश्यामि त्वां दीप्तहुताश वक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपंतम्।"

अर्थात्, जिसका न आदि, न मध्य और न अन्त है, शक्ति अनन्त है. भुजाएं अनन्त हैं और सूर्य, चन्द्र जिसके नेत्र हैं, मुख

जिसका धधकती आग के समान है और अपने तेज से सारे विश्व को जो तपा रहा है।

मनुष्य की तरह नक्षत्र भी मृत्युशील हैं। आकाश-गंगा में जो काले छिद्र हैं, वे किसी समय प्रकाशवान् नक्षत्र थे। नये नक्षत्रों का जन्म भी होता है। ब्रह्माण्ड की असीम विशालता अभीतक अज्ञात है और कल्पना के बाहर है। यह तो जरा-सी बात हुई और क्या-क्या आश्चर्य है, यह हम नहीं जानते। फिर, इतने बड़े ब्रह्माण्ड में इस छोटे से जीव की, जो मनुष्य कहलाता है, हस्ती ही क्या है?

इस पृथ्वी पर करोड़ों मनुष्य जन्म लेते हैं और करोड़ों मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। इनके अलावा पशु-पक्षी भी कितनी बड़ी संख्या में जन्मते हैं, और मरते हैं तो आश्चर्य नहीं कि अर्जुन ने देखा :

"अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मोद्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ।।

अर्थात्, राजाओं के समस्त संघों-सहित धृतराष्ट्र के पुत्र तथा भीष्म, द्रोण और सूत-पुत्र कर्ण, हमारे भी मुख्य-मुख्य योद्धाओं के साथ, आपकी भयानक विकराल दाढ़ों वाले भयंकर मुखों में धड़ाधड़ घुसे जा रहे हैं, कुछ उन दांतों में फंसे दीख रहे हैं और उनकी खोपड़ियां पिसकर चूर-चूर हो गई हैं।

यह हुआ भगवान् का विराट् रूप। पर इस विराट् रूप को समझने के लिए दिव्य चक्षु चाहिए, अर्थात् बाहरी चक्षु से यह दृश्य नहीं देखा जा सकता, अन्तर की दृष्टि चाहिए। श्रीकृष्ण

ने अर्जुन से कहा, "दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।" इस ब्रह्माण्ड की अनन्तता, महानता बिना भीतरी ज्ञान के नहीं समझी जा सकती।

स्वामी चिन्मयानन्द ने गीता के अपने अंग्रेजी भाष्य में दिव्य दृष्टि का अर्थ किया है बौद्धिक ज्ञान। आज अणु-युग में कहते हैं कि इलेक्ट्रोन, प्रोटोन एवं न्यूट्रोन इन तीनों में विश्वदर्शन हो जाता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को एक ब्रह्मतत्व में विश्वदर्शन करा दिया।

श्रीकृष्ण ने कहा :

"इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।"

अर्थात्, यहां एक ही जगह स्थित सारे संसार को देख, काल और दूरी यही सब अलग-अलग दीखने के कारण हैं। यदि काल और दूरी का भेद मिट जाता है, तो सब भूत, भविष्य, दूर और पास के पदार्थ एकसाथ दीखने लगेंगे। यह सम्भव है या नहीं, यह तो ज्ञानी ही जान सकता है, पर कुछ वैज्ञानिक कहते हैं कि समय और दूरी तो आनुपातिक बात है, जैसे समुद्र के किनारे सूरज का लाल गोला समुद्र में डूबता नजर आता है, पर सूरज तो उसके कितने पहले ही डूब चुका होता है। सूरज के डूबने के समय की रोशनी हमारे पास पहुंचती है, तब हम मानते हैं कि सूरज डूबा है, पर वह तो रोशनी चलने के समय ही डूब चुका होता है।

इसी तरह दो पहाड़ों की चोटियों पर यदि हमें चढ़ना है तो हम पैदल उतरते हैं, फिर दूसरे पहाड़ पर चढ़ते हैं, किन्तु यदि हमें हेलीकोप्टर मिल जाय तो दोनों पहाड़ों की चोटियों की दूरी बहुत कम हो जाती है। मानना चाहिए कि दूरी और

समय का हिसाब भ्रमात्मक है।

श्रीकृष्ण ने अपना विराट् रूप दिखाकर अर्जुन को ज्ञान कराया कि ब्रह्माण्ड अनन्त है। जन्म, मरण तो क्षण-क्षण होते रहते हैं, न कोई मरता है, न कोई मारता है।

"न त्वेवाहं जातुनासं न त्वं नेमे जनाधिपाः
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।"

अर्थात्,न तो ऐसा है कि मैं और तुम किसी समय नहीं थे, न ऐसा ही है कि ये सब राजा नहीं थे और न कभी कोई ऐसा समय आयेगा, जबकि हम सब इसके बाद नहीं रहेंगे। सारे ब्रह्माण्ड में ही ऐसा चलता रहता है, अर्थात् आत्मा नित्य है। जो युद्ध-भूमि में हैं, वे भूत में भी थे और अब भी हैं और भविष्य में भी रहेंगे। अर्जुन को बताया कि आत्मा नित्य है, "तू कर्त्तव्य मत छोड़, इनके लिए मोह और शोक करना उचित नहीं है।" ○

किसी व्यक्ति या वर्ग के चिन्तन को हम तत्कालीन सामाजिक लोकाचार और विश्वासों से, नैतिक और आध्यात्मिक वातावरण से, एकदम अलग नहीं कर सकते। साथ ही, यह चिंतन स्थानबद्ध भी है। सामाजिक लोकाचार और विश्वासों में समय-समय पर और एक स्थान से दूसरे स्थान पर, अन्तर होता है और हो सकता है। समय और स्थान की इन सीमाओं के बावजूद, जिनमें व्यक्ति की अपनी कमजोरियां भी जुड़ जाती हैं, हमें यह समझना चाहिए कि वैश्य जैसी कर्म-प्रधान जाति की गतिविधियों के मूल में चिन्तन की एक निरन्तरता रही है। 'गीता' के अनुसार :

"कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्।"

—कृषि, गोरक्षा, व्यापार, ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं।

यद्यपि आधुनिक काल में वैश्य जाति की संरचना में परिवर्तन हो रहा है, तथापि परम्परावादी समाजों में यह संरचना अपेक्षाकृत यथावत् है, क्योंकि उनमें जाति का निश्चय जन्म से होता है, हालांकि अतीत में क्षत्रियों के वैश्य बन जाने के उदाहरण हैं। विश्वामित्र क्षत्रिय थे; किन्तु अन्ततः उन्होंने ब्रह्मर्षि पद प्राप्त कर लिया। इस प्रकार की निरन्तरता में स्पष्ट ही अपने गुण और अवगुण हैं। यहां इस पहलू पर विचार की आवश्यकता

नहीं। हम केवल यह कहना चाहते हैं कि सभी पहलुओं को ध्यान में रखते हुए इसके दोष बदलती हुई संरचना और परिप्रेक्ष्य वाली जाति के दोषों से अधिक नहीं हैं।

बहरहाल, भारत के अतीत पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि समाज में वैश्यों का सदा सम्मान होता रहा है। वैदिक काल में सभी मिलकर श्री-समृद्धि के लिए प्रार्थना करते थे। वेदों में वैश्यों को 'श्रेष्ठिन्' कहा गया है। समाज में उसे सम्मान का पद प्राप्त था। यह स्थिति हजारों वर्षों तक रही। हाल तक, भारत के हर गांव में वैश्य वहां के आर्थिक और सामाजिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु रहा है। वह अपने परिकर का मित्र और मंत्रदाता था। वैश्य को जो मान-सम्मान दिया गया, वह उसके दायित्व के बिना नहीं था। वाणिज्य-व्यापार जारी रखते हुए उसका यह कर्तव्य था कि अपने लाभ का एक अंश समाज-कल्याण के लिए अलग रक्खें।

संक्षेप में, भारत के व्यापारी वर्ग की सामाजिक दायित्व निभाने की परम्परा रही है। यह परम्परा अभी खत्म नहीं हुई है। देश में सर्वत्र सैकड़ों स्कूल और कालेज, अस्पताल और अनेक आर्युविज्ञान तथा अनुसंधान संस्थान मिल जायेंगे। विगत की भांति आज भी दैवीय तथा अन्य प्रकोपों के समय सहायता-कार्य में व्यापारीजन और उनकी संस्थाएं आगे रहतो हैं।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥

अर्थात, प्रजापति ने प्राचीन काल में प्राणियों को यज्ञ की भावना से उत्पन्न किया और कहा कि तुम भी यज्ञ की भावना से ही सांसारिक सूत्र चलाओ। यह यज्ञ तुम्हारी इच्छाएं पूरी

करेगा।

यहां यज्ञ का अर्थ है निष्काम भाव से कर्म करना। 'गीता' निष्काम स्वकर्म को यज्ञ मानती है। 'गीता' में फिर कहा है :

"इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ भाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥"

—यज्ञ की भावना से प्रसन्न होकर देव तुम्हें इच्छित पदार्थ देंगे। ऐसे दिये हुए पदार्थों का भाग दूसरे को दिये बिना जो भोग करता है, वह चोर ही है।

यों, पलभर को सोचें तो सभी संस्थाओं—राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक या धार्मिक—का संचालन मनुष्य द्वारा होता है, मनुष्यों के लिए होता है। लाभ कमाने के संकीर्ण, हालांकि नगण्य नहीं, लक्ष्य के आगे भी एक चिंतन है। यदि उद्यमी उससे निर्देश ग्रहण नहीं करते तो उनका उद्यम सहज ही पिंड-मात्र बनकर रह जायेगा।

सचाई यह है कि जो उत्पादन बढ़ाने में या नये उद्यम स्थापित करने में सफल हुए हैं, वे सभी केवल शुष्क लाभ के विचार से प्रेरित नहीं हुए। उनके पीछे निर्माण के आनन्द की महती भावना रही है। ऐसा न होता तो कहीं भी आर्थिक विकास न हुआ होता। उनकी प्रेरणा-शक्ति वह संतोष रहा है, जो समाज का अनिवार्य अंग बनने से प्राप्त होता है।

'पुरुष-सूक्त' का एक मंत्र है :

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद् वैश्यः यदभ्याम् शूद्रो अजायत॥"

अर्थात्, उस पुरुष का मुख ब्राह्मण, भुजाएं क्षत्रिय, उदर वैश्य और चरण शूद्र माने गए हैं।

प्राचीन काल से हमारी मान्यता रही है कि विद्याव्यसनी व्यक्तियों को ब्राह्मण की भूमिका निभानी है, जबकि व्यापार में लगे व्यक्तियों को वैश्य का कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। हमें एक ओर प्राचीन मान्यता को भी स्मरण रखना चाहिए। जिस समाज में ब्राह्मण या विद्वज्जन संतुष्ट नहीं हैं, उस समाज का पतन सन्निकट है। इसी प्रकार यदि वैश्य या व्यापारीजन आत्म-तुष्टि में ही लीन रहते हैं, तो भी समाज का ऐसा ही परिणाम होगा। जनता के इन दो वर्गों को मन:प्रवृत्ति में युगों से अंतर चला आ रहा है; किन्तु समाज-हित का ज्ञान उन्हें आपस में बांधे हुए है। कोई समाज ज्ञान के निरंतर विकास के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता, और न सम्पत्ति में निरन्तर वृद्धि के बिना फल-फूल सकता है। ज्ञान और सम्पत्ति का निर्माण, उपभोग और वितरण राष्ट्र को सुखी बनाते हैं।

जैसा मंत्र में कहा गया है, उदर की भांति, जो सारा भोजन स्वयं ग्रहण कर और उसे पचाने के बाद शरीर के सभी अंगों को उसका तत्व पहुंचा देता है, वैश्य भी समाज के विभिन्न वर्गों का पालन-पोषण कर समाज के शरीर को सम्पुष्ट रखता है। देश की समृद्धि बढ़ाता है।

लेकिन, कम और अधिक, व्यक्ति की निजी भावनाओं का अधिकतम आर्थिक उपलब्धि की भावना से मेल होना चाहिए। दोनों में तादात्म्य है। निजी भावनाओं और अधिकतम आर्थिक अवसरों की बात सोचते समय वैश्य को यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यापार-नीति ऐसी हो जो अंततः सभी क्षेत्रों में निजी प्रति-बद्धता की प्रेरणा दे सके। यदि उसमें समाज-सेवा की भावना नहीं है तो वह सफल नहीं होगी।

हर व्यक्ति के लिए समाज को कुछ देना आवश्यक है। अपने उद्यम का फल अकेले ही नहीं भोगना चाहिए। इस प्रकार के योगदान से अपनत्व की भावना आती है। यह सिद्धांत सभी वर्गों पर लागू है। व्यापारीजन केवल अपने लिए ही सम्पत्ति अर्जित नहीं कर सकते, और न दूसरों की सम्पत्ति से ईर्ष्या कर सकते हैं।

'ईशावास्य' का प्रथम मंत्र है :

"ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजी था मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥"

'गीता' के कर्मयोग का आधार यही सिद्धांत है। इसका अर्थ है कि यहां इस जगत में जो-कुछ है सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है। अतः उसका त्याग करके अपने वास्तविक रूप का पालन करो, पराए धन का लोभ न करो।

यदि किसी व्यापारिक उद्यम के पीछे प्रेरणादायी चिन्तन नहीं है, तो मैं उसे उत्कृष्ट नहीं कहूंगा। निःसन्देह, उसका प्रबंध कुशलता से होना चाहिए, कर्मचारियों के साथ अच्छे सम्बन्ध होने चाहिए और उपभोक्ता को संतोष होना चाहिए। किन्तु व्यापक स्वीकृति के लिए कुछ और भी चाहिए। यह 'कुछ और' उत्पादन में वृद्धि, रोजगार बढ़ाने के लिए नई इकाइयों की स्थापना, होना चाहिए। इसका अर्थ यह भी है कि सामुदायिक समस्याओं को हाथ में लिया जाय, जैसे नगर आयोजन, गंदी बस्तियों की सफाई, पर्यावरण दूषण को रोकना, शिक्षा जन-यातायात, अपराधों की रोकथाम, आदि। ○

९ / सब सुखी रहें

प्राचीन भारत का सांख्य दर्शन मनुष्य को "दुःख के पूर्ण उन्मूलन" के लिए परम पुरुषार्थ करने का आदेश देता है। आधुनिक अमरीका के लोकतांत्रिक सिद्धान्त में घोषणा की गयी है कि स्वतंत्रता का महत्त्व "सुख की प्राप्ति" के लिए अनुकूल परिस्थितियों में योगदान करने में है। वास्तव में, मानव-सभ्यता की दीर्घाओं में एक आवाज जो निरंतर गूंजती रही है, वह है दुःख से मुक्ति की कामना की। सुख की खोज, सुख की भावना से प्राप्त, सुख की दृष्टि से संचालित, मनुष्य के परम लक्ष्य पर छायी हुई है।

इसका कारण जीवन को कल्याण की भावना से—आत्मा के, व्यक्तित्व के, मन के, शरीर के कल्याण की भावना से—ढालना है। आनन्द के स्रोत को प्राप्ति जीवन की प्रेरक शक्ति है। आनन्द के स्रोत तक पहुंचने में जो-कुछ बाधक है अथवा बाधा डालता दिखाई देता है, उस सब पर नियंत्रण करना इस शक्ति का उद्देश्य है। वह जीवन और मृत्यु के बीच के रंगीन इन्द्रधनुष से टकराती रहती है। उपनिषद् का कहना है, "सम्पूर्ण जीवन की उत्पत्ति आनंद से हुई है। वास्तव में, जीवन की ज्योति ही जीने का आह्लाद है।" गीता में तो यहां तक कहा गया है, "मोह-भावना से आत्म-उत्पीड़न सहित किये गए तप 'तामस' कहलाते हैं।" (श्लोक १९, अध्याय १७)। वंचना में धर्म का

उत्कृष्ट रूप प्रकट नहीं होता। गुलाब में कांटे होते हैं। उनका गुण उसकी रक्षा करना है; किन्तु गुलाब का वास्तविक आकर्षण उसकी पंखुड़ियों की रंगीन सुगन्ध में है।

जीवन की शक्ति वस्तुओं को आनंद के रूपों में परिवर्तित करने में, कष्टों को सुख के रंगों में रंगने से, सिद्ध होती है। अंग्रेजी के कवि पोप की ये पंक्तियां एकदम हृदय को छू लेती हैं:

"हे सुख, तू हमारी सत्ता का निष्कर्ष और लक्ष्य है—सद्, आनंद, विश्राम, संतोष, तेरा कुछ भी नाम हो।"

विषाद जीवन का शत्रु है। वह मन की अस्वस्थता है, जिससे शक्ति नष्ट होती है और विपत्ति आती है। इसके विपरीत, दुःख को जीतना सर्वोच्च विजय है। जिसके मन में अपने दुःख पर विजय पाने की क्षमता है, वह ऋषि है, जिसने न केवल अपने वरन् मनुष्य-मात्र के दुःखों को जीतने की क्षमता प्राप्त कर ली है, वह संत है। भगवान बुद्ध ने सभी मनुष्यों को दुःख पर विजय प्राप्त कर सकने का मार्ग दिखाया। ईसा मसीह को मनुष्य के 'दुखों पर विजय' का प्रतीक माना गया। दूसरों के दुःखों को अपने ऊपर लेकर, गर्व-द्वेष से रहित होकर, कष्टों को शांतिपूर्वक हर लेने के आनंद में निमग्न होना महान् जीवन की कला है और इस कला में संकीर्णता के लिए कोई स्थान न होने से सार्थक सुख में सभी का भाग होना ही चाहिए। एकान्तिक सुख स्वार्थ है। दूसरों के दुःख की प्रतिक्रिया होती है। कहीं भी अंधेरा कोना हो, विषाद का स्थल हो अथवा संघर्ष का क्षेत्र हो, राग का यह ऐसा कीटाणु है, जिससे छूत फैलना और मानवता के स्रोतों का विषाक्त होना अनिवार्य है। इसीसे महाभारत में जगद्-व्यापी सामंजस्य की प्रार्थना की गयी है:

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सव सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥"

—सभी सुखी हों, सभी मन और शरीर से स्वस्थ हों, सभी एक-दूसरे का भला चाहें, दुःख किसी के भाग्य में न हो।

यह महाप्रार्थना जन-जन के मन में स्पन्दित हो रही है और मूल समस्या—कही या अनकही—क्या है ? वह कौन-सी वस्तु है, जो सुख को उसकी वास्तविक चमक, उसका वास्तविक आकर्षण, उसका भावनात्मक रस प्रदान करती है ? मानसिक सुख की भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी भौतिक सुख की। भौतिक सुख के लिए प्रथम आवश्यकता अभाव से मुक्ति की है। महाभारत में स्पष्ट कहा गया है, "पंच महादुःखों में अभाव सबसे अधिक क्षतिकारी है और उसके बाद जीवन-निर्वाह तक के लिए अत्यंत कठोर श्रम करना है।" आज भी अटलांटिक घोषणा-पत्र में प्रतिज्ञापित 'चार मुक्तियों' में अभाव से मुक्ति को सम्मिलित करना बहुत महत्त्वपूर्ण है। अभाव के विरुद्ध अभियान आज के स्वतन्त्र विश्व का अभियान है।

जीना तभी अच्छा लगता है, जब वह भयकारी अग्नि-परीक्षा न बने। भौतिक साधन महत्त्वहीन नहीं हैं, क्योंकि अभाव मनुष्य की सारी शक्ति को सोख लेता है और उसमें मन के अभौतिक आनंदों की अनुभूति कर पाने की प्रवृत्ति भी नहीं रहती। मन ही मनुष्यों को प्राप्त वह अद्वितीय उपहार है, जो उसे पशु-संसार में एकांतिक वरीयता प्रदान करता है, जो उसे सृष्टि में सम्मानजनक स्थान दिलाता है, जो अबतक विकास-प्रक्रिया में अन्तिम शब्द का द्योतक है। मन ही मनुष्य को सृष्टि-रंगमंच का मुख्य अभिनेता बनाता है।

और, अभाव से मन क्षीण होता है, बुद्धि का ह्रास होता है, उसकी अंतर्ज्योति पर कुहरा तथा धुआं छा जाता है, उसे क्षुद्र बना देता है और उसके आन्तरिक सौंदर्य को हर लेता है। तब हमारा पहला संघर्ष अभाव के विरुद्ध होना चाहिए; किन्तु ऐसा करते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस युद्ध के धर्म-युद्ध न रहने पर मनुष्य की प्रतिष्ठा गिर जाने का संकट है। युद्ध की दिशा को इस आशा के साथ नियंत्रित करना है कि व्यक्ति की युग-चेतना मनुष्य की मुक्ति के क्षेत्र का विस्तार कर सकेगी।

मानव-जीवन परिवर्तनशील है, 'जहाज के पंछी' की तरह वह एक बल्ली से उड़कर दूसरी बल्ली पर जा बैठता है। इसका कोई ज्ञात कारण नहीं है, सिवाय इसके कि मानवीय विश्व-रचना के परिदृश्य में सदा समय का माप नहीं रहा है। युग सिमटकर दुःख का एक क्षण बन गये हैं, अथवा दुःख का एक क्षण युगों लम्बा हो गया है। बिना मौत आये कोई नहीं मरता, किन्तु मरण के कष्टों का अनुभव अनेक बार हो सकता है।

केवल स्वतंत्र मन से ही सुखी मन हो सकता है और सुख का निर्माण किसी सरकारी विभाग के द्वारा नहीं किया जा सकता। उसका निर्माण सुख की खोज करनेवाले और इस लक्ष्य की प्राप्ति में अपने निजी साधन जुटानेवाले व्यक्ति ही करेंगे। दूसरे लोग तो, जिनमें सरकार भी है, इस प्रयत्न में सहायता ही दे सकते हैं। 'सद्-जीवन' के विचार नैतिक और सौंदर्य-परक दोनों स्थिर नहीं रहेंगे। अनेक अस्थायी निर्णय करने होंगे, परीक्षण करने होंगे और उद्देश्यों तथा प्राथमिकता, निष्कर्षों तथा संदर्भों की निरंतर तुलना करनी होगी।

ऐसा हो सकता है कि कभी-कभी लोग स्वप्नों को सुख समझने के छल में आ जायं। लोग तो इस बात के लिए बने हैं कि जो कुछ दिखाया जाय, उसीकी खोज करते हुए, उसीको देखते हुए, चलते चले जायें, यद्यपि वे परम सामंजस्य की खोज करते हैं। क्षणिक भावना स्वप्न की भांति ओझल हो जाती है। एक अन्य मोह या भ्रम सत्य दिखायी देने लगता है। उसे भी नष्ट होना ही है। फिर भी शासक-वर्ग भावी विश्व का मात्र काल्पनिक सुनहला रूप खींचते रहते हैं। उनका उद्देश्य लोगों को वास्तविकता के प्रभाव से अलग रखना होता है। नकारात्मक सिद्धांत अपनाकर वे एक भूली-बिसरी रचना के सारे सौंदर्य का चित्र खींचते रहते हैं। अंततः आत्म-ज्ञान के अनुभव से बचने के लिए उनका यही ढंग है। जीवन उनके लिए एक प्रकार का जुआ है। वे उन भ्रमों को पालते रहते हैं, जो कदाचित् यथार्थ से अधिक सुन्दर और अधिक पूर्ण हैं, और जो कुछ के विचार से कानून है। उनका अपना अस्तित्व-मात्र मृग-तृष्णावत् है और इसलिए वे दूसरे लोगों की मृग-तृष्णाओं का आदर करना सीख लेते हैं। लोग भूले अतीत और झूठे भविष्य के बीच फंस जाते हैं।

ज्ञान ही, जिसमें विज्ञान भी है, मनुष्यों का सही दृष्टिकोण है। वह सब कुछ जानने को स्वतंत्र है। ज्ञान ही स्वयं पर शासन करने की शक्ति है। यंत्रवत् केन्द्रीय निर्देशन से समानता पैदा होना आवश्यक नहीं है।

अनेक लोगों ने अमरीका में एक भारतीय पर्यटक के पिछले दिनों एक अनुभव के बारे में सुना होगा। यात्रा-पत्रों को दर्ज कराते हुए उसने विमान-कम्पनी को सूचित किया कि वह

शाकाहारी है। यह सूचना परिकलक यंत्र (कम्प्यूटर) को दी गयी और फिर परिकलक यंत्र से कार्यकारी शाखा को हिदायतें मिल गईं। लेकिन विमान में भारतीय यात्री को भी वही खाना मिला, जो दूसरों को दिया गया था। उसने परिचारिका का ध्यान इस ओर खींचा, जो प्रबंधक को बुला लायी। प्रबंधक ने जब विस्तृत हिदायतों पर दृष्टि डाली, तो पता चला कि परिकलक यंत्र ने कहा था, "अब शुक्रवार को मांस खाया जा सकता है।" एक विख्यात अंग्रेजी लेखक ने एक बार कहा था, "असमान परिस्थितियों में समानता असमानता है।" किसी भी व्यापक रूप से मान्य प्रणाली में ऐसे निश्चित, बने-बनाये मान-दंड नहीं हैं, जिनसे क्षमताओं का मूल्यांकन किया जा सके।

आज का समाज जीवन को इतने भावनात्मक कोण से नहीं देखता। शांत-स्वभाव अर्थशास्त्रियों का कहना है कि मुद्रा का सभी दिशाओं में और सभी वर्गों में प्रचलन होना चाहिए। तर्क दिया जाता है कि मानव अनुमान के अनुसार मानव को उसकी न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी करने-भर को तो मिलना ही चाहिए। इस तर्क का कारण केवल अंतरात्मा या भावना ही नहीं है, वरन् यह आशंका भी है कि बढ़ता हुआ अभाव समाज पर छा जायेगा। प्लेटो का गणराज्य, मूर का आदर्श लोक, मार्क्स का सर्वहारा-वर्ग (सिद्धान्त), मानव-सम्बन्धों में अधिक सामंजस्य लाने के लिए समाज के पुनर्गठन में तत्पर है। अभाव केवल निर्धनों की ही समस्या नहीं है, वह धनिकों की भी समस्या है, जिसे उन्हें अर्थ-व्यवस्था के साधनों और आध्यात्मिकता की भावना से सुलझाना है। इसी प्रकार विकसित देश साथी राष्ट्रों के आर्थिक पिछड़ेपन की उपेक्षा नहीं कर सकते। आज की दुनिया इतनी

संगठित हो चुकी है कि एक दूसरे को नहीं भूल सकता ।

कभी-कभी त्रुटियां होना सम्भव है; किन्तु सच्चाई से त्रुटि का होना स्वतंत्रता का अग है । यदि कोई अपनी त्रुटियों के प्रति सचेत है तो उसने कितनी गलती की, यह महत्त्वहीन है । आवश्यकता तो सब ओर से शक्तियों को मुक्त करने की है ।

प्रगति का संकेत मतभेदों के प्रति आदर से मिलता है । राजनैतिक नियमों और आर्थिक नियमों में एक-दूसरे के प्रति सच्चा और उदार आदर होना चाहिए । सच्चा और पूर्ण सुख राजनीति और अर्थशास्त्र के बीच सूक्ष्म संतुलन बनाये रखने से ही प्राप्त हो सकता है । दोनों अपने तथ्यों पर आधारित हैं और दोनों को उन कल्पनाओं से मुक्त किया जाना चाहिए, जो दोनों को ही भ्रम में डालती दिखाई देती हैं । दोनों अपने-अपने ढंग से तर्कसंगत और व्यवहार्य हैं । किसी भी दशा में, हठधर्मिता नहीं होनी चाहिए और अर्थशास्त्र तथा राजनीति के बीच निरंतर आदान-प्रदान होते रहना चाहिए, जिससे वे एक-दूसरे के लिए व्यापक उपलब्धि में सहायक हों और किसी के अंतर्जात सिद्धान्तों का उल्लेख न करें ।

इसके लिए आवश्यकता ऐसा निर्णय करने की है, जिससे वस्तुओं को उनके सही परिपेक्ष्य में देखा और ढाला जाय तथा उद्देश्य की एकता प्राप्त की जाय, जिससे सभी को संतोष हो और किसी का बलिदान न हो । किसी भी स्वस्थ और लाभकारक निर्णय में स्वतन्त्रता तथा विचार का समन्वय आवश्यक है । विचार-रहित स्वतन्त्रता से उछृंखलता या मूढ़ता पैदा होती है और स्वतन्त्रता-रहित विचार या तो जड़ होता है या त्रुटिपूर्ण । फलदायक प्रभाव के लिए स्वतन्त्रता का उपयोग विचार के साथ

तथा विचार-स्वतन्त्रता के साथ किया जाना चाहिए। मन का धर्म सोचना है और मनुष्य का स्वतन्त्रता, अतः सफलता का मार्ग स्वतन्त्र चिन्तन से ही है।

मनुष्य को अपनी समस्याएं सुलझाने के लिए प्रेरणा-स्रोतों का विकास करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता एक सरल मान्यता पर आधारित हैं, सही ढंग से सूचित जनता का बहुमत उचित निर्णय करेगा। फिर भी, आज और प्रतिदिन, बड़ी संख्या में लोग शिकायत करते हैं कि सरकार बहुत अधिक अधिकार अपने हाथों में ले रही है। हमें और हमारी संतति को सैकड़ों महत्त्वपूर्ण ढंगों से प्रभावित करने वाले बड़े-बड़े निर्णय, निश्चय ही, सही ढंग से सूचित मतदाताओं के बहुमत द्वारा नहीं किये जाते, वरन् उन पदारूढ़ व्यक्तियों द्वारा किये जाते हैं, जिनके चुनाव में जनता ने सचेतन भाग नहीं लिया है। अधिकतर, नीति-निर्माताओं ने कल्याण-कार्यक्रम की अपनी धारणाओं से करोड़ों व्यक्तियों को भरमाया है। समय निकट है, जबकि ज्ञात यथार्थ का ऐसा अज्ञान मतदाताओं को एकमात्र अवशिष्ट साधन अपनाने को बाध्य कर देगा, बिना सोचे-विचारे भावना से काम करने का। विख्यात अमरीकी लेखक फिलिप वायली का कहना है, "केवल ईश्वर (और शैतान) को ही लोगों के जीवन से खिलवाड़ करने का अधिकार प्राप्त है।" साथ ही हमें अपना प्राचीन मंत्र याद रखना चाहिए, "प्रजा विष्णुः।" और उस दशा में हमें आशा करनी चाहिए कि जनता अपनी सही स्थिति से परिचित होकर राजनैतिक रूप से सही और आर्थिक रूप से भी तर्क-संगत जीवन-दृष्टि अपनायेगी।

जनता एक समूहवादी शब्द है। इसका अर्थ है संपूर्ण जनता।

समान उद्देश्य से, समान उपलब्धि से, संगठित जनता—जो अपनी प्रकटतः अनेकता से विचलित नहीं होती वरन् अपनी अन्तर्जात एकता से अनुप्राणित है। तब मैं, उपनिषद् के महान् शब्दों में, प्रार्थना करता हूं, "सः नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।" (श्वेताश्वतरोपनिषद्)—भगवान् हमें शुभ बुद्धि दे। हमारे मत हमें विभाजित न करें, सभी समान उपलब्धि के लिए अपने धर्म का पालन करें, वे अंतर्विरोध के बिना विभिन्न गुणों का आदर करें। सुख का विवेकपूर्ण आधार ही सही आधार है और इसका अभी निर्माण किया जाना है। कहीं ऐसा न हो कि दुःखों का भार असावधान जनता को कुचल दे। नेता भले ही असफल हों, स्वयं जनता को असफल नहीं होना चाहिए। उसकी स्थिति ऐसी नहीं है कि असफल होना सहन कर सके। ○

१० / 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मण :'

प्राचीन वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार मानव एक पशु है। जिस शरीर में वह वास करता है, वह आदिम है। जावा के अर्ध वानर और अर्ध मानव के बाद, जिसका आविर्भाव कम-से-कम एक लाख वर्ष पूर्व हुआ था, वह लगभग चालीस हजार वर्ष पुराना पड़ चुका है। मानव संसार का एक सबसे बड़ा हिंसक पशु है। वैज्ञानिकों के ही अनुसार वह अन्य पशुओं को और 'युद्ध' नाम के खेल में अपने सजातियों को भी, सताने और मारने में मौलिक आनन्द प्राप्त करता है।

किन्तु उसके पास जो कुछ है, उसका श्रेय उस बौद्धिक नियन्त्रण को है, जो घोड़ा दबानेवाली उंगली को थामे हुए है। मानव-रूपी इस पशु ने जो भारी प्रगति की है, उसके बावजूद उसकी एकमात्र जैव विशेषता, उसके मस्तिष्क के विकास के अनिश्चित इतिहास को बहुत-कुछ समझना शेष रहता है और इस शक्तिशाली अंग ने ही उसे संसार का सर्वोच्च शासक बना दिया है। सोफोक्लीज ने कहा है, "आश्चर्य अनेक हैं, पर मानव से अधिक आश्चर्यकारक कोई नहीं है।"

मानव मन में वैषम्य को तादात्म्य में बदलने की अजेय प्रवृत्ति है। हमारी ज्ञानेन्द्रियां तत्काल जो कुछ ग्रहण करती हैं, वह विविधतापूर्ण और अनेकरूपा हैं। समाधान की भूखी और प्यासी हमारी बुद्धि इस वैषम्य को तादात्म्य में बांधने का प्रयास

करती है। हम किसी भी ऐसे सिद्धान्त से गहरा संतोष प्राप्त करते हैं, जो अनेकता को एकता में, व्यापक और मायावी तथ्यों को सुगम तथा बोधगम्य प्रणाली में, असंयमित अविवेक को विवेकपूर्ण नियमन में बांधने का प्रयत्न करे, जिससे ज्ञान सार-भूत होकर परिभाषा तथा चिन्तन का नियम बन जाय। इस आधारभूत तथ्य से ही विज्ञान का, दर्शन का, धर्म का, अस्तित्व है। यदि हम वैषम्य को तादात्म्य में बांधने का प्रयास न करें तो हमारे लिए चिन्तन करना ही प्रायः असम्भव हो जायेगा। फिर तो संसार में मात्र अराजकता, परस्पर असम्बद्ध प्रपंचों की विशृंखलित कड़ी रह जायगी।

विचार की पुंजीभूत शक्ति इतनी प्रबल कही जाती है कि वह कुछ भी कर सकती है। पुराणों में राजा नहुष की कथा आती है। इन्द्र की रानी शची पर मोहित होकर उसने उससे प्रणय निवेदन किया। उसका नाश करने के उद्देश्य से रानी ने यह शर्त रक्खी कि वह अपनी पालकी सप्तर्षियों से उठवाकर लाये। नहुष ने सप्तर्षियों को अपनी पालकी ढोने का आदेश दिया, किन्तु मार्ग में अधीरतावश उसने कहा, "सर्प, सर्प," अर्थात् शीघ्र चलो, शीघ्र चलो। लेकिन सर्प का अर्थ सांप भी होता है, सो एक ऋषि ने उसे शाप दे दिया, "जा, सर्प हो जा," और नहुष तत्काल सर्प बन गया।

हम ऐसी प्रतीकात्मक गाथाओं में आज विश्वास भले ही न करें, लेकिन ऐसे वैज्ञानिक भी हैं, जिनका कहना है कि वे केवल विचार-शक्ति से ही दूर रक्खी भौतिक वस्तुओं की गति पर नियन्त्रण कर सकते हैं।

चैकोस्लोवाकिया के श्री रावर्त पावलीता का ऐसा ही दावा

है। कुछ समय पूर्व चैकोस्लोवाकिया के एक युवक और अत्यन्त अग्रदर्शी वैज्ञानिक, विद्युत क्रियान्वयन के शिक्षक, डा० वैसेले ने भौतिक विज्ञान-संस्था के इन्जीनियर श्री जीरी मात्सकू के साथ मिलकर एक अत्यन्त मायावी मशीन बनायी। उसके निर्माण में उन्हें तीन वर्ष लगे। पहली दृष्टि में मशीन काफी सीधी-सादी दिखायी देती है—सुई की नोक पर सधी हुई और घूमती हुई कागज जैसे पतले तांबे की एक हवा-सी हल्की परत।

किन्तु यन्त्र इतना मायावी था कि उसमें दुर्घटना, संयोग या छल का कोई सन्देह नहीं किया जा सकता था। मशीन को बाहरी भौतिक हस्तक्षेप से दूर रखने के लिए पूरी सावधानी बरती गयी थी। सुई को घुमानेवाला बिजली का मोटर चुम्बकत्व रहित था, जिससे तांबे की चक्कर खाती परत पर उसका कोई प्रभाव न पड़ सके।

यन्त्र को विसंक्रमित अचुम्बकीय दीवारों वाली पेटी में रक्खा गया। तांबे की परत के चक्कर फोटो इलेक्ट्रिक प्रक्रिया से गिने गये और दर्ज किये गए।

मशीन से छः फुट दूर बैठकर श्री पावलीता ने अपनी दृष्टि घूमते हुए तांबे की पर्त पर जमायी और उसके रुकने की इच्छा व्यक्त की।

डा० वैसेले के अनुसार श्री पावलीता दस में से छह बार तांबे की परत की गति धीमी करने या रोकने में समर्थ रहे।

चैकोस्लोवाकिया के ही ब्रातिस्लावा नगर से एक अन्य चमत्कारी परीक्षण की पुष्टि का समाचार मिला है। वहां एक व्यक्ति ने ध्यान-योग से द्रव में तैरती हल्की वस्तुओं को पूर्व निर्धारित दिशा में गतिमान करने का दावा किया है। जिस

व्यक्ति का यह आश्चर्यजनक दावा है, वह कोई शौकिया नहीं है। वह है प्रसिद्ध भौतिक वैज्ञानिक डा० जूलियस क्रेम्स्की।

कुछ व्यक्ति भविष्य की बातें भी बताते हैं। आम ढंग से जानकारी एकत्र कर और जानकारी से सम्भव, अधिक सम्भव, और अधिक सम्भव से अत्यन्त सम्भव, घटनाओं का अनुमान लगाने के ढंग से नहीं, किन्तु कुछ व्यक्तियों को कुछ भावी घटनाओं की पूर्व दृष्टि की विशेष शक्ति प्राप्त होती है।

परन्तु मानव को मस्तिष्क की ऐसी शक्ति क्यों प्रदान की गयी है ? अवश्य ही, मस्तिष्क को अपनी स्वाभाविक मौत मरने देंने के लिए नहीं, या अकर्मण्यता से उसमें जंग लगने देने के लिए नहीं। सिसरो का कहना है, "आत्मा सदैव कुछ-न-कुछ करने की इच्छा करती रहती है।" अंग्रेजी भाषा में एक सुन्दर शब्द है 'स्लाथ', आलस्य। अंग्रेज आलस्य को भी विवाह के सात घातक पापों में एक पाप मानते हैं। इसका अर्थ है, 'निरुद्योग—कुछ नहीं करना' या अकर्मण्यता में समय बिताना। आलस्य वास्तव में न केवल वैवाहिक, वरन् मानवता के विरुद्ध पाप है। जब अकर्मण्यता उदासीनता का रूप ग्रहण कर लेती है, तो यह एक खतरनाक भ्रम बन जाता है। इसके विपरीत, कर्म अनुशासन है, जो भौतिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए अच्छा है। कुछ विचारकों का कहना है कि क्योंकि कर्म स्वार्थ से प्रेरित होता है, अतः कर्म से प्रेम का अर्थ स्वयं से प्रेम होता है। इस मिथ्या विचार का विरोध करते हुए 'गीता' में कहा गया है, "केवल अकर्मण्यता से ही कोई सांसारिक स्वार्थों से परे नहीं होता।"

विगत में, किसी एक व्यक्ति के जीवन में अधिक परिवर्तन

हुए बिना, मानव की परिस्थिति में विशाल परिवर्तन हो गये हैं। जैसे किसी पीढ़ी को पता चले बिना ही भाषा अत्यन्त सीमित रूप से विकसित होकर समृद्ध तथा जटिल रूप ग्रहण कर सकती है। जब सुस्थिर समाजों को परिवर्तन की जानकारी होती है, तो प्राय: सदा ही वह कोई विशेष परिवर्तन होता है, जिसका जीवन के एक अंश पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और कुछ दूसरे अंशों में महज हेर-फेर की आवश्यकता होती है। पूर्व-सन्तुलन में यथाशीघ्र फिर से व्यवस्था स्थापित हो जाती है। नैतिक और सौन्दर्यबोधी, दोनों अर्थों में उपयोगी जीवन के विचार स्थिर नहीं रहेंगे। जो नवीन है, वह इसलिए नवीन नहीं है, क्योंकि वह पहले कभी नहीं रहा, बल्कि इसलिए, क्योंकि उसके गुण में परिवर्तन हो गया है। व्यवस्था और अधिकार तथा सत्य और सौहार्द के लिए मानव की खोज जारी है। निरपेक्ष सत्य का निर्णय न तो व्यक्ति करते हैं और न समाज, और समाज में परिवर्तन से सत्य बदलेगा नहीं। समाज के हर वर्ग के लिए निर्धारित कार्य विशेष यथावत् रहेगा।

'गीता' में भगवान् कृष्ण कहते हैं :

"नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण:।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण: ॥"८-३॥

—तू शास्त्रविधि से नियत किया हुआ स्वधर्मरूप कर्म कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, कर्म न करने से तो तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।

अतीत में एक सुस्थिर समाज के अधिकांश सदस्य प्राय: अनजाने में वह सबकुछ ग्रहण कर लेते थे, जो अपने चारों ओर के जीवन के बारे में जानने के लिए, उनके लिए आवश्यक था।

शिक्षित व्यक्तियों का एक छोटा वर्ग चेतनापूर्वक सुयोजित ज्ञान भण्डार का भागीदार होता था। संक्षेप में, जीवन के पक्ष को दूसरे पक्ष से सम्बद्ध करने के लिए सुस्थिर समाज के कुल उद्यम से एक छोटे अंश को ही उसमें लगाने की आवश्यकता होती थी। यह बात अब बदल चुकी। समाज के सभी अंग गतिमान हैं और अधिकांश लोग गतिमान हैं। वे काम बदल रहे हैं, आवास बदल रहे हैं, परिचय बदल रहे हैं, समस्याओं से जूझ रहे हैं और ऐसे अवसरों के पीछे भाग रहे हैं, जिनके बारे में उनके पूर्वजों ने कभी सुना भी न था। हमारे सामने इस बात का प्रमाण प्रचुर मात्रा में पहले ही विद्यमान है कि भविष्य में अधिक काम और अधिक परिश्रम करना होगा, क्योंकि हमारे सामने उग्र संक्रमण की जो परिस्थितियां हैं, वे ऐसी नहीं कि वैज्ञानिकों, अर्थ-शास्त्रियों या धर्माचार्यों का एक छोटा वर्ग उन्हें सम्हाल सके। हम उस ओर बढ़ रहे हैं, जिसे 'जन नेतृत्व' कहा जा सकता है।

'गीता' में इसे बहुत स्पष्ट किया गया है :

"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥"३३-४॥

—हे पार्थ, सम्पूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञान में शेष होते हैं, अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है।

ज्ञान के अनुरूप जीवन-यापन को 'ज्ञान-यज्ञ' कहते हैं। यह यज्ञ मानसिक है और विवेक की सहायता से सम्पन्न होता है तथा स्वभावतः सम्पत्ति-यज्ञ से अधिक श्रेष्ठ समझा जाता है।

हाल के वर्षों में भारी सामाजिक उथल-पुथल के प्रतिक्रिया-स्वरूप अनेक व्यक्ति निरपेक्ष सत्य द्वारा निरूपित ध्यान-योग की ओर मुड़े हैं। संक्रमण के मध्य मानव जो व्यवस्था बना सकता है, बनाने का उसे अधिकार है, भले ही समाज में विचारों

और मूल्यों के सर्वमान्य स्वरूप का अभाव हो। विचारों के सम्मिलन से दर्शन का विकास होना सम्भव है। मानव और उसका समाज विकासशील हैं। मानव अपनी विकासमान बुद्धि और नैतिक उपलब्धि के अनुसार सामर्थ्यभर उथल-पुथल को सहन कर सकता है, किन्तु आधारभूत तथ्य यही है कि यह व्यक्ति के कार्य का युग है। हां, किसी भी प्रभावी कार्य में बुद्धि का समावेश होना आवश्यक है। ○

११ / ऐश्वर्य के प्रति संघर्ष

महाभारत के एक श्लोक का अर्थ है कि तीनों लोकों में ऐश्वर्य के लिए चराचर में संघर्ष होता रहता है।

विचार और आदर्श हर युग में नवीन होते चलते हैं। यह गति प्रायः अग्रगामी ही होती है। कई उतार-चढ़ावों के बाद इसका फल और प्रयास अन्ततः श्रेष्ठतर ही होता है। इस अग्रगामी गति के सन्दर्भ में, मानव-इतिहास में, निरन्तर मानसिक और भौतिक प्रगति होती रहती है, किन्तु इन दोनों में से किसी एक की उपेक्षा करते हुए दूसरे को अधिक अपनाना, वास्तव में, असन्तुलन ही कहा जायगा। 'ईशावास्योपनिषद' में सन्तुलन की इस उपेक्षा पर बड़ी मार्मिक उक्ति है :

"अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो यउ विद्यायां रताः॥"

—वे अंधकार में रहते हैं, जो भौतिक भोगों को ही महत्त्व देते हैं, किन्तु उनसे भी अधिक अधोगामी गति उनकी है, जो केवल आधिभौतिक को ही सबकुछ मानते हैं।

भारतीय परम्परा में व्यापारी और शिल्पकार को प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त है, यद्यपि, अन्य प्राचीन देशों की भांति, संत और दार्शनिक को सबसे अधिक सम्मान दिया गया है। जब पूर्व में ज्ञानालोक फैला, तब पश्चिम बिल्कुल अज्ञात था। वैदिक भारत में समृद्धि के प्रति स्पष्ट अनुराग पाया जाता है। लक्ष्मी

की प्राप्ति के लिए सर्वत्र प्रार्थनाएं हैं। बड़े, पराक्रमी व्यापारियों को काफी सम्मान प्राप्त है। वेद में उसे 'श्रेष्ठि' कहा है, जिसका अर्थ है 'श्रेष्ठ पुरुष'। 'बृहदारण्यक' उपनिषद् में इस आशय का एक रोचक प्रसंग है कि ब्रह्मा जब ब्राह्मण और क्षत्रिय का सृजन करके सन्तुष्ट नहीं हुए, तो उन्होंने वैश्य अथवा गणेश की सृष्टि की, जो साम्प्रदायिक संघटन का कार्य करता था। बौद्ध साहित्य में बताया गया है कि सेट्ठि को अर्थात् व्यापारी-श्रेष्ठ को राजा, प्रजा और जनपद, सभी से सम्मान प्राप्त था :

"राजपूजितो नगर जनपदपूजितो।"

उसके विरुद्ध आज जैसा कोई राजनैतिक अभियान उस समय नहीं था।

भारतीय राजनीति की नींव जनता थी। वैदिक-कालीन राजा का मुख्य कार्य जनता की सहमति प्राप्त करते रहना था। 'सबके विचार एक हों, जिससे सभी प्रसन्नतापूर्वक तृप्ति प्राप्त करें' (ऋग्वेद, दशम, १९१, २-४)। 'शतपथ' ब्राह्मण के अनुसार जनता को वस्तुतः 'राजा-कृतः' (राजा-निर्मात्री) माना जाता था। महाभारत और मनु भी यही मानते हैं। कुशल तथा व्यवहारवादी राजनेता कौटिल्य ने भी, राजा के हित-रक्षण के बावजूद, यह लिखा है कि जनता की सेवा करना और जनता के सुख में ही अपना सुख समझना राजा का कर्त्तव्य है। इससे पूर्व, नारद ने महाराज युधिष्ठिर को पूर्णतः जनता के हित और सुख के लिए कार्य करने का उपदेश दिया। प्राचीन भारत में प्रजा की रचनात्मक भूमिका राजा पर अंकुश रखना था।

जनता की इस भूमिका को यूरोप में पुनर्जागरण और सुधारवादी काल के बाद ही मान्यता मिली। ब्रायस ने 'द माडर्न

डैमोक्रेसीज़, में जनता की इस 'भूमिका' की प्रशंसा करते हुए लिखा है, 'जनता की प्रभुसत्ता ही लोकतन्त्र का आधार और नारा है।" लेकिन उसने उपसंहार में यह भी लिखा है, "यदि आप जनता को अपने अनुकूल कर सकें—और यह कार्य कम कठिन नहीं है—तो बाकी सारे काम सामान्यतः सुचारु ढंग से चलते रहेंगे।" यह 'प्रभुसत्ता' भारतीय राजा को सम्बोधित इन शब्दों में व्यक्त हुई है, "तुम गर्व कैसे कर सकते हो, तुम तो जन-समूह के दासमात्र गणदास हो और षष्ठमांश (फसल का छठा भाग जो राजस्व के रूप में दिया जाता था) पर गुज़ारा करते हो—(यजुर्वेद चतुःशतक, सूक्त ६।७७)।

यदि जीवन गति है तो उद्योग उस समय तक जीवित, जाग्रत और गतिशील है जबतक व्यक्ति और समुदाय को राष्ट्र के लिए अपनी ही पहल के अनुसार उत्पादन करने देने की सुविधाएं प्राप्त रहती हैं। जीवन प्रतियोगिता का ही दूसरा नाम है। आर्थिक जीवन की धारा मुक्त प्रतियोगिता के तल पर बहती है, जो लोगों को औचित्य की सीमा में कार्य करने की स्वाधीनता देती है। बाजार को समझना, उसकी प्रवृत्ति का अनुकरण करना तथा उसके मिजाज़ को कायम रखना ही औचित्य की कसौटी है। प्रबुद्ध स्पर्धा को सामान्य विवेक और सद्बुद्धि, दोनों का ही सहारा प्राप्त है और इसके फलस्वरूप वह उचित मूल्य, मज़दूरी और लाभांश निर्धारित करने में समर्थ होती है। प्रतिस्पर्धा का सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि प्रगति मनुष्य और प्रकृति में तत्वतः अन्तर्निहित है। विख्यात विद्वान इमर्सन ने तो स्वतन्त्रता को ही जीवन माना है और स्वतन्त्र होकर ही कोई स्पर्द्धा करता है।

प्रतिस्पर्धा प्रकृति की ही देन है। यह एक तरह से प्राकृतिक विज्ञान से सम्बन्धित है। न्यूटनवादी भौतिकशास्त्र प्रकृति में कानून और व्यवस्था को मान्यता देता है। डार्विन के जीवशास्त्र ने यह सन्देश दिया है कि जो समर्थ है, वही जीवित रह सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिस्पर्धा न्यूटनवाद और डार्विनवाद के यौगिक का आर्थिक संस्करण है। यह स्मरणीय है कि प्रतिस्पर्धा के सिद्धान्त अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित किये जाने से बहुत पहले ही सामान्यतः लागू थे, जिसके फलस्वरूप एक ऐसी आर्थिक संहिता व्यवहार में थी, जिसने प्रतिस्पर्धा को सामाजिक विकास से सम्बद्ध किया।

सामंती और राजशाही युग ने राजकीय तथा राजशाही निरंकुशता को काफी गुंजायश प्रदान की। राजशाही वित्तीय प्रभुता को प्राप्त करने और कायम रखने पर आमादा थी और उसने व्यापारिक संतुलन का जो प्रयत्न किया, वह दरअसल अनुदार ही था। हमारे देश में यदा-कदा कौटिल्य जैसे व्यवहारवादी विचारकों ने ही नियन्त्रण के प्रति अपना आग्रह प्रदर्शित किया है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि उनका मुख्य उद्देश्य राज्य के राजस्व के लिए वाणिज्य का उपयोग करना था। उसने सम्राट् को खनिजों, लवण तथा कुछ अन्य पदार्थों में एकाधिकार रखने का परामर्श दिया।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का उद्‌गम आधुनिक यूरोप है। उद्योग द्वारा संस्थापित अर्थतन्त्र की पृष्ठभूमि औद्योगिक क्रान्ति ने बनाई थी। यन्त्र धीरे-धीरे मानवीय श्रम का स्थान लेते गये, लेकिन श्रम फिर भी यन्त्रचालित उद्योग का अभिन्न अंग बना रहा। उत्पादन बढ़ता गया। उसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों

पर कब्जा करना आवश्यक था। धन का अर्थतन्त्र औद्योगिक ढांचे की जटिलताएं पहले ही बढ़ा चुका था। जनता राजनैतिक मंच पर आई और मानवीय प्रतिष्ठा और वैयक्तिक स्वाधीनता के प्रति जागरूकता दिखलाने लगी। इस जागृति से राजशाही विशेषाधिकारों द्वारा आरोपित नियन्त्रणों के विरुद्ध नाराज़गी फैली।

नये पूंजीपतियों और नये श्रमिकों को मताधिकार देने के लिए लोकतन्त्र का प्रसार हुआ। उद्योग के नये नायकों ने अपने देश की सम्पदा बढ़ाने में काफी योग दिया। राष्ट्रीय सम्पदा में वृद्धि से प्रशासकीय नियन्त्रणों को हटाने की मांग प्रबल हुई। इन सब बातों से अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन की रुचि को बढ़ावा मिला।

औद्योगिक अर्थतन्त्र के वैज्ञानिक व्याख्याकारों ने उत्पादकों की सेवाओं का महत्त्व समझा और उद्यमों की स्वाधीनता का समर्थन किया। इस सिद्धान्त को बल मिला कि स्वाधीन और पूर्ण प्रतियोगिता सम्पदा के लिए राष्ट्र के प्रयत्नों और कर्मों का समुचित वाहन है। आर्थिक मामलों में इस चेतना का प्रवक्ता एडम स्मिथ था। उसकी 'वेल्थ आफ नेशन्स' नामक पुस्तक आधुनिक राजनैतिक अर्थतन्त्र की बीजात्मक पुस्तक है। स्टेनले जेवान्स, मिल और बैथम ने स्मिथ का अनुगमन किया। इन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि अच्छा आर्थिक सामर्थ्य 'प्रतिस्पर्धा' द्वारा सम्भव है। जेवान्स ने अपने आर्थिक दृष्टिकोण का आधार उत्पादक की बजाय उपभोक्ता को बनाया और यह तर्क दिया कि मांग और पूर्ति का निर्धारण उपभोक्ता द्वारा अनुभूत उत्पादन की उपयोगिता द्वारा किया जाता है। आशय यह

था कि स्वाधीन उपभोक्ता-मांग को आपूर्ति का नियन्त्रण करने-वाली शक्ति माना जाना चाहिए और इसलिए मुक्त बाजार समाज के सन्तोष और राष्ट्रीय सम्पदा के अधिकतम उत्पादन का आश्वासन है।

नियन्त्रण की धारणा अ-प्रतिस्पर्धी एकाधिकारी संगठनों के विरुद्ध प्रतिरक्षा के रूप में बैंथम के उपयोगितावादी दर्शन में भ्रूण-रूप में विद्यमान है। इस प्रकार नियन्त्रण साधनमात्र ही था, जिसका उद्देश्य प्रतिस्पर्धा व्यवस्था की रुग्णता का उपचार करना था।

सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध उनका पक्ष मोटे तौर पर इस धारणा पर आधारित था कि यदि सरकार और गैर-सरकारी संस्थाएं दमनकारी अधिकार से सज्जित होकर आर्थिक मामलों के सामान्य और स्वतः संचालन में हस्तक्षेप न करें तो समाज के आथक मामले अपनी देख-रेख स्वयं ही कर सकते हैं। उन्हें लोगों की वैयक्तिक पहल द्वारा निर्धारित किये जाने की छूट मिलनी चाहिए। 'प्राकृतिक व्यवस्था' के प्रति सम्मान का उनका सिद्धांत 'पूर्ण प्रतिस्पर्धा' के 'अदृश्य हाथ' के सक्रिय कार्य-संचालन द्वारा समर्थित था, जो अपने-आपमें 'बाजार की यन्त्र-रचना के जादू' से परिचालित होता है। यह आर्थिक व्यक्तिवाद का प्रारम्भिक सिद्धान्त है, जिसने राजशाही नियंत्रणों का स्थान लिया। प्रतियोगिता इसकी मूल ध्वनि है।

प्राविधिक प्रगति की ताबड़तोड़ रफ्तार से उत्पादन की योजना अकस्मात अस्त-व्यस्त हो गई और उसके फलस्वरूप प्रतिस्पर्धा-व्यवस्था भी विकृत हो गई। एक से बढ़कर एक नये

विशाल यन्त्रों के दबाव और खिचाव के प्रभावस्वरूप उद्योग बे-तरतीब और बे-लगाम हो गया। अगणित नई विधियों से उत्पन्न अनेक तोड़-मरोड़ और झटकों ने ऐसी शक्तियां उत्पन्न कीं, जिन्होंने आर्थिक प्रतिस्पर्धा की अन्तर्निहित व्यवस्था को तोड़ दिया और तब कई उद्योगों के ताने-बाने तैयार हो गये और दानवाकार प्रतिष्ठान, न्यास तथा निगम उठ खड़े हुए। इन एकाधिकारी संगठनों ने भाव अपनी इच्छा से निर्धारित किये और बाजार को अपनी उंगुलियों पर नचाना शुरू कर दिया। साधारण उपभोक्ता कष्टों के अपार और अथाह सागर में डूब गये। सम्भवतः इस खतरनाक पक्ष के परिप्रेक्ष्य में आल्डस हक्सले ने व्यंग्यपूर्ण चुटकी लेते हुए कहा, "प्राविधिक प्रगति ने हमको केवल पीछे की ओर लौटने के अधिक प्रभावकारी साधन प्रदान किये हैं।"

एकाधिकारी संगठनों ने प्रतिस्पर्धा-प्रणाली की कमजोरियों से लाभ उठाया और आपूर्ति पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया। ऐसी शक्ति का सामना करने के लिए अमरीका-जैसे देशों में सरकार ने एकाधिकार-नियन्त्रित बाजार को नियन्त्रण-मुक्त कराने का उपाय अपनाया। इस परिप्रेक्ष्य में, नियन्त्रण का उद्देश्य प्रतिस्पर्धा को विशाल प्रतिष्ठानों के शिकंजे से छुड़ाना है। सरकारी नियन्त्रणों अथवा न्यास-विरोधी अधिनियमों का यही उद्देश्य है कि प्रतिस्पर्धा पुनः सजीव और सक्रिय हो जाय। एकाधिकार के दुर्गुण उसकी विशालता के परिणाम नहीं हैं, बल्कि प्रतिस्पर्धा की क्षतियों के प्रतीक हैं। उदार नियन्त्रण की समता कुछ हद तक ऐसी चिकित्सा से की जा सकती है, जो प्रकृति के आरोग्यकारी सामर्थ्य को मुक्त अथवा पुनः उत्पन्न

करके प्रकृति को सहायता देती है; लेकिन जब नियन्त्रण को अधिकार और शक्ति के रूप में इस्तेमाल किया जाता है तो वह निश्चय ही हानिकर हो जाता है। जब चिकित्सा प्रकृति की स्वाभाविक क्रिया में सहायक बनने की मर्यादा का उल्लंघन करने लगती है, तो उसका प्रभाव बुरा ही पड़ता है। उसी तरह नियन्त्रण पर अकारण अधिक जोर देने पर प्रतिस्पर्धा-व्यवस्था को आघात लगता है और इस प्रकार आर्थिक कल्याण के उद्देश्य को क्षति पहुंचती है।

लेकिन इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि बड़े प्रतिष्ठान आर्थिक क्रिया के स्वाभाविक विकास के ही परिचायक होते हैं। इसलिए कई कमजोरियों के बावजूद इन्हें समाज की विकासकारी सेवा का श्रेय प्राप्त है। निगम राष्ट्र के जीवन के भौतिकतावादी नियन्त्रण को ढालते हैं। नये उत्पादनों की योजना, कल्पना और सुधार के स्रोत कई हैं। केवल बड़ी कम्पनियां ही जनता के लिए माल की विविध किस्में तैयार करने के संसाधन रखती हैं। आज हम जो कुछ खरीदते हैं, उसका अधिकांश बड़े निगमों द्वारा तैयार किया जाता है। उन्हें इस बात का सही-सही ज्ञान अपने-आप हो जाता है कि उपभोक्ता क्या खरीदना चाहेंगे। यह खुले आम साफ-साफ स्वीकार कर लेना चाहिए कि उपभोक्ता को अपनी आवश्यकताओं का ज्ञान संसाधन-सम्पन्न उत्पादक की सूझ-बूझ द्वारा ही प्राप्त होता है। अक्सर बाजार में पहुंचकर ही उसे पता चलता है कि उसको क्या चाहिए। जीवन में ज्यादा-से-ज्यादा सुख-सुविधा पाने की उसकी कल्पना नये उत्पादनों से ही प्रेरित होती है। उन्हें देखकर ही वह उन नयी आवश्यकताओं और अभावों का अनुभव करता है, जिनके

विषय में वह पहले बिलकुल ही अनभिज्ञ था। यह एक शानदार काम है, जो बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठान बिना केन्द्रीय आयोजना की सहायता और लगाव के भी ईमानदारी से कर रहे हैं।

बड़े कारखाने भौतिक सभ्यता की महती शक्तियां हैं, क्योंकि वे चरित्र के नियामक होते हैं और राष्ट्र के श्रम-बाजार को स्तर देने में सहायता देते हैं। संसाधनपूर्ण कम्पनी को यह निर्णय करने की आजादी होती है कि वह क्या, कैसा और किसके लिए, किस तरह से अपना माल तैयार करे। वह उपभोक्ता की मांग पूरी करने के लिए बाजार की नब्ज पहचानती है, चाहे वह स्कूटर बनाये अथवा व.तानुकूलक। उत्पादन की योजना ही रोजगार की योजना का निर्धारण करती है। उत्पादक को बाजार की पहचान होती है और वह इसी हिसाब से हर व्यक्ति को काम देता है।

समाज पर निगम के संगठन और टेक्नालॉजी का भारी प्रभाव है। वस्तुतः शिक्षा-व्यवस्था आर्थिक क्रिया के अनुकूल ही विकसित हुई है। चाहे हम इंजीनियरिंग कालेज की बात करें अथवा लॉ (विधि) कालेज की चर्चा करें, निगम-संगठनों द्वारा प्रशस्त क्षेत्र तथा मांग पाठ्य-क्रम के निर्धारण में भारी योग देती है। जब जिस प्रकार के ज्ञान ओर लोगों की जरूरत होती है, तब उत्पादक संयन्त्रों की आवश्यकताओं के अनुकूल वैसा ही ज्ञान तथा वैसे ही लोग तैयार किये जाते हैं।

जो छात्र कला की डिग्रियां लेते और स्वभावतः तटस्थ-जैसे रहते हैं, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उनके शिक्षण का भी एक बड़ा भाग देर-सवेर निगम-क्षेत्र की मांगों से प्रभावित और निर्धारित होता ही है। किसी कम्पनी या प्रयोगशाला की किसी-

न-किसी कोटर में उनके लिए भी व्यवसाय निकल ही आता है। रोजगार-क्षेत्र की बदलती प्रकृति की उपेक्षा करनेवाला विश्व-विद्यालय अन्ततः खेद और अयोग्यता को ही प्रमाणित करता है।

दुर्भाग्य से, विशालता के प्रति हमारे यहां अकारण संदेह किया जाता है। लोगों को भय है कि हर बड़ी चीज लघु मानव के हितों के प्रतिकूल होती है। लेकिन हकीकत यह है कि ऐसे लोगों को यह पता ही नहीं कि उन्हें बड़े कारखानों से क्यों भय है ? कुछ उत्पादनों के प्रसंगों में मुनाफाखोरी की चटपटी कहानियां कभी-कभी फैल जाती हैं; लेकिन वहां एक अन्दरूनी कहानी भी है, जो बड़ी रचनाओं की कहानी है, उन निर्माणों की कहानी, जो हमेशा ही निर्मम शोषण अथवा नितान्त गैर-जिम्मेदारी के ब्योरे-मात्र नहीं हैं। दरअसल, पूंजीवाद अधिक उदार आलोचना का पात्र है। व्यापारी-विरोधी होना एकतरफा दृष्टिकोण है, जिससे मानव-प्रगति को कोई सहायता नहीं मिली।

इस बारे में जापान के यतारो इवासाकी तथा ऐची शीबूसावा के नाम उल्लेखनीय हैं। इवासाकी ने मित्सुबीशी ग्रुप को बनाया, जो आज भी दुनिया के सबसे बड़े और सफल ग्रुप में है और शीबूसावा ने करीब छः सौ कारखानों की स्थापना की। जापान के औद्योगिक विकास के इतिहास में इन दो नामों का बहुत बड़ा महत्त्व है।

व्यापारिक संगठन अक्सर राजनैतिक दलों से कम संदेह आकृष्ट करते हैं। इसका अर्थ यह है कि बहुमत सरकारी आयोजना से उत्पन्न विपत्तियों की अपेक्षा व्यापारिक अराजकता के

प्रति अधिक सहिष्णु है। लेकिन नियन्त्रण अब 'स्थापित तथ्य' बन गया है—राजनीति में और उसके फलस्वरूप अर्थशास्त्र में भी; लेकिन नियन्त्रण अपने-आपमें कोई साध्य नहीं है। साध्य तो यह है कि अर्थशास्त्र को सामाजिक ढांचे में स्वतन्त्र स्पर्धा-पूर्वक काम करने योग्य बनाया जाय। किन्तु राज्य को शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए प्रायः साध्य का दुरुपयोग किया जाता है। टायन्बी का मत है कि प्रथम महायुद्ध के बाद की दुनिया लोक-तन्त्र द्वारा सामान्यतः प्रदत्त शक्तियां प्राप्त करने की ओर अग्रसर हुई, क्योंकि "निरंकुशता के दुर्गुण लोकतन्त्र के सिद्धान्तों से अधिक प्रसारशील सिद्ध हो रहे थे।"

अब हम आर्थिक नियन्त्रण की विशिष्ट समस्या की ओर ध्यान दें। अर्थशास्त्र का क्षेत्र क्या है? जहां उत्पादक, विक्रेता और क्रेता के बीच सौदेबाजी के सामाजिक सम्बन्ध में धन का प्रवेश होता है, वहीं अर्थशास्त्र पदार्पण करता है। संक्षेप में, अर्थशास्त्र धन के अर्जन और वितरण के लिए सामाजिक अनु-मोदन से सम्बन्धित कानून है।

आर्थिक प्रतिस्पर्धा मांग और पूर्ति की स्व-निर्देशित गति को उद्घाटित तथा प्रतिपादित करती है। यह सचमुच ही आश्चर्य की बात है कि समाज के विभिन्न सदस्य काफी माल और सेवाओं का उत्पादन और उपभोग इच्छानुसार करते हुए भी इस बात पर ध्यान नहीं देते हैं कि यह सब कैसे होता है! एक विशाल आर्थिक प्रक्रिया हमेशा चलती रहती है, जिस पर बड़े नगरों में लाखों लोगों की दैनिक गुजर-बसर निर्भर करती है और हजारों लोग विभिन्न स्थानों में कार्यरत रहते हैं। साधा-रणतः हम इस ओर ध्यान नहीं देते। इस ओर हमारा ध्यान तो

तभी आकृष्ट होता है, जब सरकार किसी केन्द्रीय निर्देश द्वारा आर्थिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करती है। आयोजन कुछेक अधिकारियों का ही प्रचेतन है, जबकि प्रतिस्पर्धा विशाल मानव-समुदाय की अचेतन और अर्द्ध-चेतन स्फूर्ति है। फिर भी प्रतिस्पर्धा-व्यवस्था अराजकता नहीं है, जबकि कई बार नियन्त्रित आर्थिक कार्य कहीं भी कुछ गणना अथवा ज्ञान-सम्बन्धी भूल के कारण अव्यवस्थित हो सकते हैं। प्राकृतिक और कृत्रिम के बीच यही भेद है। प्रतिस्पर्धा मानव-प्रकृति का तत्व है और मानव-प्रकृति की भांति ही वह अपना उद्देश्य पूरा करती है तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जीवित रह पाती है। प्रकृति-प्रेरित प्रतिस्पर्धा सामाजिक ढांचे को प्रभावित करती है और प्रगतियों के अनुकूल उसे ढालती है।

आर्थिक प्रतिस्पर्धा उत्पादकों को कीमतों के साथ चलने को बाध्य करती है, अन्यथा उन्हें मैदान छोड़ने पर बाध्य हो जाना पड़ता है। विवेकपूर्ण प्रतिस्पर्धा बाजार को एकरसता, गतिरोध और स्थिरता से बचाकर प्रतिस्पर्धियों के लिए नये पथ प्रशस्त करती है। यह सामाजिक कल्याण के अनुरूप ही है, क्योंकि यह जड़-सन्तोष की निरन्तर बढ़ती आकांक्षाओं को पूरा करती है। प्रतिस्पर्धा की योजना के अन्तर्गत, वैयक्तिक पूंजीपतियों को जन-अपेक्षाओं के प्रति सामाजिक रूप से संवेदनशील होना पड़ता है और उन्हें बाजार के विकासशील, सम्भव तथा वास्तविक परिवर्तनों के प्रति बौद्धिक रूप से सतर्क रहना पड़ता है। हर प्रतिस्पर्धात्मक लेन-देन निर्णय-बुद्धि को सुधारता है और पसन्दगी की समस्याओं को हल करने तथा उपयोगी परीक्षण शुरू करने में सहायता देता है। यह उल्लेखनीय है कि

ज्यों-ज्यों बाजार का भौगोलिक विस्तार होता जाता है, त्यों-त्यों भीड़-भरी प्रतिस्पर्धा से उत्पन्न बाधाओं का भी स्वतः ही निराकरण होता जाता है, लेकिन यह विकास भी उत्तरदायित्व-पूर्ण प्रतिस्पर्धा का ही फल है।

प्रतियोगिता प्रकृति की देन है। यों, कोई भी व्याख्या पूर्ण नहीं है। प्रतियोगिता में भी कुछ अपूर्णताएं हैं; लेकिन ऐसा तभी होता है, जब उसमें बहुत ज्यादा खिचाव आ जाता है। सामान्य अवस्था में तो यह चमत्कारी कार्य ही करती है, क्योंकि यह प्रकृति का ही एक जीवन्त उपकरण है। स्पर्धा का विकास स्वतः हुआ है और इसीलिए यह प्रकृति का प्रत्यक्ष निर्देश है। इसका निर्माण किसी विशेषज्ञ समिति, सरकारी सत्ता अथवा विद्वानों के किसी वर्ग ने नहीं किया। उत्पादन और वितरण, लागत और बाज़ार-भाव के अनेक जटिल सम्बन्ध मुक्त और गतिशील प्रतिस्पर्धा के दबाव में स्वतः हल हो जाते हैं। प्रतिस्पर्धा-व्यवस्था प्रकृति की आर्थिक यन्त्र-रचना है।

गीता के एक श्लोक की प्रसिद्ध पंक्ति है—'तस्माद्युध्यस्व भारत'। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है—"संसार का सामना करो।" और संसार का सामना करने के लिए प्रतिस्पर्धा जरूरी है। युद्ध के मामले में भी, युद्ध के माध्यम से प्रतिस्पर्धा देश की प्रगति को बढ़ावा देती है। इस समय अमरीका और रूस परस्पर प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं और उन्होंने अन्तरिक्ष-यात्रा तथा आणुविक हथियारों के क्षेत्र में काफी प्रगति कर ली है। हालांकि अणुबम का विकास विनाश के लिए ही किया गया था, पर कालान्तर में अणुशक्ति का उपयोग मानव-कल्याण के लिए शान्तिपूर्ण कार्यों में भी होना निश्चित है और शुरू भी

हो गया है। यदि यह प्रतिस्पर्धा न होती तो हमें चन्द्रमा तक पहुंचने में कई युग लग जाते। लेकिन आज यह सम्भव हो गया है।

आर्थिक विश्व इतना गूढ़ है कि मानव-मस्तिष्क उसे समझ नहीं सकता। आज भी आर्थिक मानव का मूल आचरण वही है, जो ईस्ट इंडिया कम्पनी के ज़माने में था। विशालता अवश्य आ गई है और उनके सम्बन्ध काफी गूढ़ हो गये हैं। नवीन प्रवर्तन की योग्यताओं के कारण उद्योग ने आज न केवल उत्पादन के विज्ञान के रूप में, बल्कि जीवन भोगने की कला के रूप में भी मान्यता प्राप्त कर ली है। साथ ही, वह राष्ट्रीय सम्पदा का एक ठोस संसाधन बन गया है। आवश्यकताओं को पूरा करते हुए, वह रुचियों और दशाओं को ढाल रहा है। वस्तुतः आर्थिक प्रगति ने सामाजिक रूप-रेखाओं को संवार दिया है। यह भी स्मरणीय है कि शुम्पीटर के शब्दों में, समाज को यह नहीं मालूम कि "जीवन का स्तर गिराने के बजाय उसकी रचना में ही व्यापार का योग हो सकता है।"

सरकार ने आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में असंख्य कार्यों के लिए अपने-आपको उत्तरदायी बना लिया है और यह लगातार अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि सरकार का कार्य भारी हस्तक्षेप से चलता है। 'जस्टिस एण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ' द्वितीय संस्करण में डब्ल्यू. ए. राब्सन ने लिखा है, "इस क्रिया का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम निस्संदेह यह है कि राज्य के प्रशासकीय विभागों ने बहुत ज्यादा शक्ति प्राप्त कर ली है।" यह उक्ति आज के भारत पर भी अच्छी तरह लागू होती है। असंख्य विधायी अधिनियमों के बढ़ते हुए

भार के बावजूद, सरकार में गुरुत्व का केन्द्र विधान-संसद् से हटकर प्रशासन के हाथ में आ गया।

एक ऐसे राज्य द्वारा, जो पूर्णतः लोकतान्त्रिक नहीं है, उत्पादन के उपकरणों के स्वामित्व पर राजकीय नियन्त्रण की स्थापना उचित सामाजिक कार्य नहीं हो सकता। निजी उद्यम वैयक्तिक स्वाधीनता का एक आश्वासन है। मुक्त उद्यम द्वारा व्यक्ति को राजकीय नौकरी के बाहर भी जीविका प्राप्त होती है। जो हो, पर इस बात से सरकार में रुचि रखनेवाले व्यक्ति के अलावा कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि जनसाधारण आज नियन्त्रण के संकटों से बहुत ज्यादा दुःखी है। इससे भी आगे, नियन्त्रण-सम्बन्धी अनुभवों से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि "नियन्त्रण को किस प्रकार नियन्त्रित किया जाय?" इस गम्भीर प्रश्न के सही उत्तर पर ही लोकतन्त्र में मिश्रित अर्थ-तन्त्र का भविष्य निर्भर है।○

१२ / भूत्यै न प्रमदितव्यम्

जब शिष्य पढ़कर गुरुकुल से विदा लेता था, तो आचार्य उसे उपदेश देता था। उन अनुशासनों में एक था, "भूत्यै न प्रमदितव्यम्।" इसका अर्थ है, "समृद्धि की अवहेलना न कर।" हमारे देश के प्राचीन ज्ञानी महापुरुष नीति को एक पलड़े में रखते थे और वैभव को दूसरे में। उनके विचार से सृष्टि के दो तत्त्व हैं—पार्थिव और आध्यात्मिक। इसलिए समाज के लिए यह आवश्यक है कि पूर्णता प्राप्त करने के लिए, वह भौतिक सम्पत्ति और आत्मिक सम्पत्ति, दोनों के पृथक मूल्यों के अस्तित्व को स्वीकार करे। भारतीय 'लक्ष्मीनारायण' की आराधना करते थे। लक्ष्मी देवी और सत्यनारायण देव—दोनों की एक साथ पूजा इन्हीं दो ध्रुव सत्यों की स्वीकृति की ओर संकेत करती है, जो मौलिक और अन्तिम सत्य से सम्बन्धित हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि भाग्य देवी के परिचायक 'श्री' शब्द के अर्थ हैं—शुभ और शुभ कर्म, जैसे परमानन्द, सौन्दर्य और प्रचुरता, सभी इस सामान्य विचार में सन्निहित हैं।

भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहा था :

"राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः॥"

—राजा खजाने के सहारे रहता है। खजाना ही राजा का बल है। सब प्रकार के धर्मों का वह सहारा है। प्रजा धर्म पर

अवस्थित रहती है, अर्थात् असमृद्ध देश में प्रजा भी धर्मच्युत हो जाती है।

प्रत्येक अर्थव्यवस्था में किसी नियामक पद्धति की आवश्यकता होती है। कौन-सी चीज कब तैयार की जाय, उसका वितरण कब और किसको किया जाय तथा भुगतान की शर्तें और रकम का परिमाण क्या हो, इसको निश्चित करने की एक प्रणाली होती है। स्वतन्त्र समाज में लाभ की प्रेरणा ही यह नियामक यन्त्र होता है। सभी आर्थिक कार्य-कलापों में अधिकांशतः उससे दिशानिर्देश होता है तथा प्रगति-पथ के साधन-रूप वह अनुपम कारगर सिद्ध हुआ है।

सुविख्यात अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो ने कहा है, "किसी देश की समृद्धि और सुख के लिए ऊंचे लाभ से बढ़कर अन्य कुछ भी अधिक सहायक नहीं होता।"

इतिहास के प्रत्येक काल में हर जाति तथा राजनीति-व्यवस्था में मुनाफा अभिप्रेत रहा है। आदिम समाज में खाद्य और पशुचर्म के रूप में मुनाफा अर्जित किया जाता था। मुद्रा का उन दिनों प्रचलन नहीं था, लेकिन तात्कालिक आवश्यकता से अधिक मात्रा में बची हुई वस्तुओं को मुनाफे के रूप में उसी प्रकार रख दिया जाता था, जैसे आजकल बचा हुआ धन बैंकों में रक्खा जाता है। आगे चलकर सम्पत्ति गाय और पशुओं के रूप में मानी जाने लगी।

आम तौर पर मुनाफे की कल्पना आधुनिक काल के व्यापारिक कार्यकलापों के सन्दर्भ में सुपरिचित और तात्कालिक लाभ की दृष्टि से ही की जाती है। लेकिन लाभ या मुनाफा शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है और इस व्यापक अर्थ में ही मुनाफे की

भूमिका तथा उसकी प्रेरणा को हृदयंगम करना चाहिए।

मुनाफे की व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। उनमें से कुछ तो इतने जटिल हैं कि वे अर्थशास्त्र के लिए ही महत्त्वपूर्ण हैं। पर इन शास्त्रीय व्याख्याओं में से एक प्रस्तावना यहां उपयुक्त होगी। मुनाफा उसे कहते हैं, "जो उपलब्ध धनराशि में से उसकी लागत को बाद देने पर बच जाता है।"

किसी देश के केन्द्र द्वारा नियमित अर्थव्यवस्था के लिए मुनाफा-प्रणाली का परित्याग उपभोक्ता के हाथों से उसकी पसन्दगी की शक्ति छीन लेता है और यह थोड़े से गलत काम करनेवालों और उसकी अपनी सम्भावित मूर्खता के अधीन, संरक्षण के मूल्य के समान होता है। यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का परित्याग भी है।

मुनाफा का अनुसन्धान व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा-हुआ है। आर्थिक लाभ के लिए प्रयत्न का सुअवसर एक प्रकार से राष्ट्र के राजनैतिक दर्शन का विस्तार है और उसकी विरासत का उसी तरह का एक हिस्सा है, जैसा कि मतदान अपने मौलिक अधिकारों का। राष्ट्र के पुराने नेताओं ने अधिनायकवादी नियन्त्रण से मुक्त अर्थव्यवस्था के लाभ को स्पष्ट रूप से समझा था और वे पूर्णतया जानते थे कि इसी प्रकार की अर्थव्यवस्था का राजनैतिक स्वतन्त्रता से ताल-मेल हो सकता है। हमारे इन नेताओं ने अपना राजनैतिक सिद्धान्त इस दृढ़ विश्वास पर आधारित किया था कि स्वाधीनता अविभाज्य है।

बाजार की प्रतियोगिता में कहीं अपना अस्तित्व ही न खो जाय, इसलिए व्यवसायी उपभोक्ता की क्रय-प्रवृत्ति पर निगाह

रखता है। मुनाफा कमानेवाले के रूप में उसके कार्यकलाप उपभोक्ता के विचार तथा रुचि से पूर्णतया सम्बन्धित रहते हैं। राजनैतिक क्षेत्र की तरह आर्थिक क्षेत्र में भी जांच और सन्तुलन की ग्रावश्यकता होती है। मुनाफा-प्रणाली जैसे व्यक्तिगत लाभ में फलीभूत होती है, वैसे ही सार्वजनिक लाभ में भी हो, इसका कोई तरीका होना जरूरी है और यह तरीका या आश्वासन व्यापारिक प्रतिस्पर्धा की तीव्र शक्ति से प्राप्त हो जाता है। जबतक मुनाफा चाहनेवाले आपस में कड़ी स्पर्धा करने के लिए स्वतन्त्र रहेंगे, तबतक समाज का हित सर्वथा सुरक्षित है।

कहीं-कहीं किसी समाज ने या कुछ फिरकों ने मुनाफे को दुत्कारने की कोशिश की है, किन्तु उनकी कोशिशें बेकार गईं। कम्युनिस्ट देशों ने मुनाफा-मनोवृत्ति के खिलाफ जाति, राष्ट्रीयता, आदर्शवाद और कर्त्तव्यज्ञान तक ही दुहाई दी। किसी जमाने में अमरीका के एक स्वतन्त्र फिरके ने अपने भाग में 'मुनाफा-विरोधी' समाज स्थापित करने का प्रयत्न किया था। उत्तरगामी शताब्दी में और भी परीक्षण किये गए। प्राचीन भारत में कुछ राजाओं ने भी कुछ परीक्षण किये थे। इनमें से कइयों का ध्येय नेक होते हुए भी अशन-वसन और आवास की व्यवस्था जैसी बुनियादी समस्याओं का समाधान नहीं हुआ। केवल उन्हीं देशों ने द्रुत प्रगति की, जिन्होंने इस तरह का आदर्शवाद त्यागकर मुनाफा मनोवृत्ति को अपनाया।

आज कम्युनिस्ट देशों में एक आर्थिक क्रान्ति चल रही है, जो मुनाफे की मनोवृत्ति से प्रेरणा ले रही है। सोवियत संघ इसका विशिष्ट उदाहरण है। अधिकतम उत्पादन के लिए कटिबद्ध, बचाने और औद्योगिक सुविधाओं में विनियोग करने के

लिए प्रयत्नशील सोवियत रूस भी आज सम्भवतः मुनाफे की मनोवृत्तिवाले अन्य देशों-जैसा ही बन गया है। आज उस देश का आर्थिक उद्देश्य यह है कि माल सस्ता बनाकर महंगा बेचना और इस अन्तर को राज्याश्रित उद्योगों और सैनिक तथा प्रचार-कार्यों में लगाना। लौह-पर्दे के पीछेवाले यूरोपीय देशों की रिपोर्ट से जाहिर है कि आमूलचूल परिवर्तन होता जा रहा है और वहां भी अब अधिकाधिक रूप में पूंजीवादी-प्रणाली की तरह प्रतियोगिता को अपनाया जा रहा है। उत्पादन के परिमाण की अपेक्षा वहां भी अब मुनाफा हरेक प्रतिष्ठान की कार्य-कुशलता का मापदंड बनता जा रहा है।

उपभोक्ता की बगावत के कारण ही केन्द्रीकृत आयोजन और नियन्त्रण का कम्युनिस्ट आर्थिक सिद्धान्त छिन्न-भिन्न-सा हो रहा है। नई प्रणाली के अन्तर्गत अब केन्द्रीय आयोजक कारखाने के मैनेजरों को यह निर्देश नहीं देते कि क्या क्या और कितना बनाया जाय, मजदूरों को कितना वेतन दिया जाय और माल कहां बेचा जाय। इसके बदले हरेक कारखाने के मैनेजर को विक्रय से मोटी आय का एक लक्ष्य बता दिया जाता है।

जबतक मुनाफे का अवसर बना रहता है, मुनाफा चाहने वाला रोजमर्रा का काम खुद-ब-खुद करता है और लाभ प्राप्त करने की आशा से बहुत बड़ी संख्या में लोग कारबार की ओर आकृष्ट होते हैं। लोगों के इतने व्यापक प्रयत्न से न तो मालों की क़िस्म का ही कोई अन्त रहता है और न लोगों के लिए जुगाड़ की जानेवाली सेवा का ही। चयन सदैव बहुत व्यापक होता है और उसमें वृद्धि होती जाती है, क्योंकि मुनाफा चाहने-वाला प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता के हित के सामुदायिक उद्देश्य को

प्रदर्शित करने का यत्न करता है।

सच बात तो यह है कि मुनाफा ही विकास के लिए गुंजाइश और उत्पादन के लिए शक्ति देनेवाला स्रोत है। यह साहसिक कार्य के लिए पुरस्कार और किये गए प्रयत्न के लिए उपलब्धि है।

मुनाफा और आर्थिक विकास दोनों वस्तुतः भिन्न हैं। पर्यायवाची हैं। मुनाफा प्रगति का कारण भी है और प्रमाण भी।

आर्थिक विकास का मतलब है परिवर्तन—ऐसा परिवर्तन, जो बचत के विनियोग से उत्पन्न हो, ताकि माल और समाज-सरंजाम का विकास किया जा सके, जो मान और परिणाम में वरिष्ठ हो और बाजार में प्राथमिकता पाये। विकास के लिए इस प्रकार के साहसिक कार्य को आरम्भ करने के लिए यह जरूरी है कि आरम्भ करनेवाले यह आशा करें कि साधारण हित में उन्हें जो लाभ मिल रहा है, उससे अधिक लाभ प्राप्त होगा।

विनियोग के लिए नई पूंजी बराबर दुर्लभ रहती है। दुर्लभता स्वीकार कर लेने और साथ ही प्रचुर कल्पना-शक्ति के होने पर स्पष्टतः विकास की गति को प्रभावित करने के लिए प्रेरणा की सीमा ही बच रहती है। प्रेरणा लाभ की विद्यमानता और सम्भावना का ही नाम है। आर्थिक विकास इसी पर अवलम्बित है। लाभ सीमित करना बढ़ोतरी को सीमित करना है। इसे मार दीजिये, बढ़ोतरी मर जायेगी।

लाभ के विवेकपूर्ण और उचित स्तर को सूचित करनेवाला कोई एक अंक मान लेना सुविधाजनक हो सकता है; किन्तु

आर्थिक प्रणाली इस प्रकार नहीं चला करती और न इसकी परिभाषा ही सीमित की जा सकती है। 'विवेकपूर्ण' किसके लिए और 'उचित' किस उद्देश्य के लिए ? इन सांकेतिक शब्दों की व्याख्या कठिन है। अगर अर्थतत्व को सुलझा भी दिया जाय, तो भी मौलिक कठिनाइयां रह ही जायेंगी। मुद्रा की जो राशि लाभ के रूप में एक कम्पनी के लिए बिल्कुल उचित हो, वही राशि एक बृहत्तर प्रतिष्ठान के लिए अथवा ऐसे उद्योग के लिए, जिसमें बहुत अधिक पूंजी-विनियोग की आवश्यकता हो, अपर्याप्त होगी। रुपये के स्थान में प्रतिशत के रूप में लाभ का उदाहरण स्पष्ट समाधान है। वह शायद कारगर हो जाय, क्योंकि इससे विविध आकार-प्रकार के प्रतिष्ठान सामान्य आधार पर आ जायेंगे, यद्यपि यहीं तक बात समाप्त नहीं हो जाती। लाभ की जो दर क्षेत्र-विशेष की किसी कम्पनी के लिए जो एक बाजार की सेवा में रत हो और एक समान जोखिमों का सामना करती हो, उचित है, वही दर दूसरे बाजारों में काम करनेवाली दूसरी कम्पनियों के लिए, जहां कारबार के जोखिम अधिक या न्यून हों, उचित हो, यह कोई जरूरी नहीं—वस्तुतः उचित नहीं ही है। पुराने और नये क्षेत्र का प्रश्न मामलों को जटिल बना देता है। नये और अनिश्चित क्षेत्र में लाभ तक की सम्भावनाएं आमतौर पर विनियोग निधि को आकृष्ट करने के लिए अत्यधिक मोहक होती हैं, पर दीर्घ स्थापित उत्पादन-क्षेत्र में, जहां का बाजार अधिक पूर्व-सूचक होता है, लाभ की गुंजाइश बहुत कम हो सकती है।

अर्थ-व्यवस्था की लाभ-हानि की बढ़ोतरी विधि में कुछ स्वचालित लक्षण होते हैं। एक है हानि का सतत विद्यमान

खतरा। हरेक छोटा-बड़ा उद्यमकर्ता अपने माल के विक्रय और अपने पिछले विनियोग की बराबर हानि पूरी करता रहता है और भावी मांग को भांपकर पुनर्विनियोग भी करता रहता है। यदि उसका अनुमान गलत निकला या वह अकुशल हुआ, तो आज या कल कारबार से हटने के लिए उसे विवश होना पड़ेगा। धीरे-धीरे यह बढ़ोतरी यथासम्भव अधिक हो सकती है। ये स्थितियां स्वतन्त्र बाजार-प्रणाली की हैं। आर्थिक बढ़ोतरी प्राप्त करने के लिए मूलतः यह आवश्यक है कि लाभ-हानि की प्रेरणामूलक प्रणाली को स्वतन्त्र रूप से काम करने दिया जाय। दूसरा कोई रास्ता सम्भव नहीं है।

लाभ का स्वतः कोई नैतिक अभिधान नहीं। वह न अच्छा होता है, न बुरा। अच्छे-बुरे का प्रश्न तो उन लोगों की नीयत से सम्बन्ध रखता है, जो मुनाफा कमाते हैं। यह उल्लेखनीय है कि आलोचना मुनाफाखोरी की नहीं, उसके नाम पर किये गये अपराधों की होती है।

निश्चय ही व्यापारिक जगत् साधु-सन्तों की जमात नहीं होता। अगर देश में कुछ सिद्धान्तविहीन लोग हैं, तो यह आंकड़ामूलक सत्य है कि उनमें से कुछ व्यापारिक वर्ग में और साथ ही अन्य किसी वर्ग में भी पाये जायेंगे। नैतिकता एक वर्ग में भी उतनी ही मिल सकती है, जितनी दूसरे में। मुनाफे के नाम पर कतिपय काम होते हैं, पर उनसे इस प्रणाली के आधार-भूत तत्त्व पर परदा नहीं पड़ने देना चाहिए। कुछ लोग इस प्रणाली को भयोत्पादक मानते हैं। अंग्रेजी काल में भारत को जानबूझकर उत्पादन की सुविधाओं से वंचित रक्खा गया, क्योंकि ब्रिटिश उत्पादनकर्त्ता भारतीय बाजार को अपने लिए सुरक्षित

चाहते थे। स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात भारत के समक्ष अपनी आवश्यकता पूरी करने का उत्तरदायित्व उपस्थित हुआ; किन्तु असली बुनियादी समस्याओं को भूलकर, नेतागण आदर्शवाद और नारों में अधिक रत हो गये। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि कारगर लाभ-प्रणाली स्वतन्त्रता और देश की समुन्नति के लिए अहितकर है।

लाभ-प्रणाली के किसी भी विवेकपूर्ण निर्णय में स्वतन्त्र देशों की सफलता काफी वजन रखती है। अधिकांश ने खुले बाजार के निर्मित लाभ-प्राप्ति पर ही अर्थव्यवस्था खड़ी की है। उस उद्यम की सफलता का मापदंड है लाखों को रोजगार, करोड़ों रुपये की राष्ट्रीय आय और विशाल तथा उत्पादक तकनीकी सृजन।

विज्ञान और इन्जीनियरिंग के उन्नयन में लाभप्रद काम हर जगह दिखाई देता है, लेकिन हर जगह उसे नजर-अन्दाज कर दिया जाता है। उद्योग की आश्चर्यजनक उत्पादन-कला की ओर शीघ्र ध्यान चला जाता है, किन्तु मुनाफे के प्रमुख कार्य तकनीकी प्रगति को इस विश्वदृश्य में किसी ने श्रेय नहीं दिया। लेकिन तथ्य यह है कि तकनीकी प्रवीणता और भावी मुनाफे का प्रत्यक्ष और परोक्ष अनुदाता मुनाफा है। लाभ-प्रणाली अनुसन्धान का बिल चुकाती है और लाभ ही विस्तार को प्रोत्साहन भी देता है।

अप्रत्यक्ष रूप से व्यापारिक मार्ग से परे सामाजिक और प्रशासनिक संगठनों के संरक्षण में भी मुनाफा समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। लोकप्रेरणा राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिए आवश्यक सैनिक प्रतिष्ठानों की सहायतार्थ तथा विज्ञान और टेक्नोलॉजी

की स्थापना के लिए धन की व्यवस्था करती है और कलात्मक तथा बौद्धिक कार्यों का संरक्षण करती है। सार्वजनिक कार्यों तथा सरकारी सेवाओं के लिए भी यही अर्थ जुटाती है।

अभौतिक और विशुद्ध आर्थिक क्षेत्र में उत्कर्ष के लिए लाभ-प्रेरणा का महत्त्व अचूक है। समाज की प्रगति और प्रणाली में इसका अवदान असन्दिग्ध है। ○

१३ / बदरीनाथ के पथ पर

अलकनन्दा कलकल निनाद करती हमारे पांवों के समीप से बह रही थी। उमसभरी संध्या में उसका रंग सिलेटी दिखाई पड़ रहा था। जहां उसकी गति में बाधा पड़ती, वहां उस पर झिलमिलाता प्रकाश और भी प्रखर हो उठता था। ताजे पवन में भीगी मिट्टी की सौंधी गन्ध भर रही थी।

व्यापक और उत्तुंग हिमालय का शिखर हमारे आगे खड़ा था। हमें यहीं उसकी विशालता के दर्शन हुए। शिमला, मसूरी जैसे पर्वतीय नगरों से तो केवल चोटियों के छोर ही दिखाई पड़ते हैं। धीरे-धीरे चारों ओर अंधकार उतर आया। डाकबंगले के बरामदे में मैं कुरसी पर से उठ बैठा और टहलता हुआ धुंधले तारों की छाया में सीमा तक, नदी की ओर झांकते हुए उसके वृक्षविहीन शिलाओं के प्रांगण तक जा पहुंचा।

मानव की उत्पत्ति के बाद से विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने अत्यधिक प्रगति की है। आगामी तीस वर्षों में उसमें और भी अधिक प्रगति होगी। वैज्ञानिकों की भविष्यवाणी है कि सन् दो हजार तक मानव में भूख पर विजय पाने, जीवन-अवधि को काफी बढ़ा लेने और वंशानुगत लक्षण बदल देने की क्षमता आ जायगी। शक्ति और खनिज पदार्थ अपरिमित मात्रा में सुलभ हो जायंगे। वह चन्द्र और सौर-मण्डल के अन्य भागों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले आयेगा। सम्भवतः वह ऐसी मशीनों का भी

निर्माण कर ले, जिनमें विचार और तर्क को करोड़ों गुना करने की क्षमता होगी।

भौतिक विज्ञानों ने दुनिया को उसके दैवी स्वरूप से वंचित कर दिया है। अब हमें नक्षत्रों की रासायनिक रचना का पता है, और हम जानते हैं कि वे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, वृद्ध होते हैं और क्षय हो जाते हैं। अब हमारे मन में उन्हें देवता समझने की लालसा नहीं जगती। हमें यह भी बता दिया गया है कि सृष्टि बढ़ती है और उसका विकास होता है। ब्रह्माण्ड के अब अछूता न रह जाने से भौतिक विज्ञानों ने हर वस्तु में ईश्वर के दर्शन को अधिकाधिक कठिन बना दिया है।

अनीश्वरवाद अन्य बातों के साथ राजनैतिक कारणों से भी जन्म लेता है। सम्पूर्ण राष्ट्र ने उस राजनैतिक व्यवस्था के साथ, जिसे वह अनुचित समझता था, धर्म को भी ठुकराया है। लेकिन इसके बौद्धिक कारण भी हैं। स्पष्ट है कि विज्ञान और धर्म के संघर्ष से धर्माचार्यों का मान नहीं बढ़ा है। कभी-कभी धर्माचार्यों ने वैज्ञानिक सत्य के विरुद्ध रुख अपनाया है और उन्हें पराजित होना पड़ा है। आधुनिक विचारधारा ने भौतिक विज्ञान के कठोर अनुशासन को स्वीकार करना सिखाया। फलतः आज के विश्व में धर्म और दर्शन को इन मांगों की पूर्ति करने में समर्थ होना चाहिए।

संयोग का कोई सिद्धान्त विश्व की रचना को नहीं समझा सकता। किसी भी सुसम्बद्ध अनीश्वरवादी सिद्धान्त के अनुसार विश्व केवल 'प्रकृति' है, मात्र 'प्रकृति' होने के कारण उसे शाश्वत होना चाहिए। इसलिए अनीश्वरवादी सिद्धान्तशास्त्री विश्व की रचना के बारे में हर कीमत पर ऐसा दृष्टान्त पेश करने

को बाध्य हैं, जिसमें विश्व को अनादि माना जाय और, इसलिए जिसका कोई इतिहास न हो। किन्तु विश्व का इतिहास है, उसमें आदि असंख्य हैं, उसका विकास होता है; पदार्थ का इतिहास है और उसकी वृद्धि होती है। लगभग तीन सौ करोड़ वर्ष पूर्व ठण्डे पड़ जानेवाले नक्षत्रों पर अधिकाधिक जटिल और व्यवस्थित पदार्थ प्रकट हुआ तथा जीव की उत्पत्ति हुई। स्वभावतः जीवन के इतिहास को पहले से अधिक जटिल स्नायविक प्रणालीवाले अधिकाधिक विविध और स्वचालित जीवाणुओं की उत्पत्ति का इतिहास समझा जा सकता है। मस्तिष्कवाले जीवधारियों का निरन्तर विकास होता रहा और अन्त में मानव की उत्पत्ति हुई।

आकार-रहित पंचमहाभूत स्वयं को व्यवस्थित करने में, सचेतन होने में और स्वयं में विचार-शक्ति पैदा करने में समर्थ हुए हैं। स्पष्ट है कि यदि पदार्थ को इस प्रकार से देखा जाय, तो उसे बहुत अधिक कल्पना-शक्ति, भारी बुद्धिमत्ता तथा साक्षात प्रतिभा का श्रेय मिलना चाहिए, क्योंकि किसी भी जीवधारी के, वह कितना भी तुच्छ क्यों न हो, शरीर के भाग तथा बड़े जीवाणुओं की स्वतन्त्र उत्पत्ति के लिए और साथ ही जीवन के उच्चतर रूपों को चेतन करनेवाली क्रिया-कलाप-प्रणाली के आविष्कार के लिए भारी प्रतिभा की आवश्यकता थी। यह स्वीकार करना होगा कि इसका कोई स्रष्टा है। हम अभी तक कृत्रिम रूप से सरलतम जीवाणु का भी निर्माण नहीं कर पाये हैं। पदार्थ, स्वयं जीव-विकास का आविष्कार करने में समर्थ हुआ है। वह युगों से अधिक बड़े मस्तिष्कवाले और पहले से कहीं अधिक चेतनावाले अधिकाधिक जटिल तथा विविध जीव-

धारियों की अधिकाधिक गति से सृष्टि की ओर निरन्तर अग्रसर है। कहना न होगा कि पदार्थ में ईश्वर के-से सभी गुण हैं—स्वयंभू, जीव-विकास में आत्मनिर्भरता तथा सृजनशील भाव और प्रतिभा।

प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक क्लोद त्रेस्मॉतां सजीवन वस्तु की व्याख्या करते हुए कहता है, "इसमें 'पदार्थ' और एक 'रूप' या धारण करनेवाला 'ढांचा' होता है। उसके अनुसार शरीर की परिभाषा आत्मा द्वारा सजीव किया गया पदार्थ है। आत्मा से रहित शरीर नहीं हो सकता, क्योंकि मृत्यु होने पर जब आत्मा तिरोहित हो जाती है तो पीछे जो कुछ शेष रहता है वह शरीर नहीं, नाशवान पदार्थ का फुटकर ढेर, शव होता है।"[1]

सुकरात ने विष-पान के बाद मृत्यु तक का समय काटने के लिए अपने मित्रों से वार्त्तालाप शुरू कर दिया था। सुकरात ने कहा, "आत्मा अमर है और उसका पुनर्जन्म होता है।" संबीज ने इस पर शंका प्रकट की।

सुकरात ने उत्तर दिया, "विरोधों से विरोध उत्पन्न होते हैं, जैसे निद्रा से जागरण उत्पन्न होता है और जागरण से निद्रा। जब अशक्त शक्तिशाली बनता है तो शक्तिशाली अशक्त बन जाता है। मृत्यु जीवन से जन्म लेती है, इसलिए स्वभावतः जीवन मृत्यु से जन्म लेता है।"

यह चौबीस सौ वर्ष पूर्व का दर्शन है और स्वभावतः प्रवचन के अलावा उसे अधिक महत्त्व नहीं मिला। लेकिन आज फ्रांस के विख्यात भौतिकवादी दार्शनिक ओलिवियर कांस्ता द ब्योरेगार

---

१. क्लोद त्रेस्मातां : 'रियलाइट्ज' पत्रिका के साथ भेंट.

ने इस प्रकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वह जिज्ञासा करता है, "हम समय को अप्रत्यावर्ती क्यों समझते हैं ? जीवधारी सृष्टि में विरोधी दिशा के बजाय इस दिशा में जाने के लिए क्यों बाध्य हैं ?" वह आगे कहता है, "विश्व का विकास तभी होता है, जब हम अपने दृष्टिकोण से देखते हैं। स्वयं में, वह शाश्वत वर्तमान में अचल है।"[१]

इस सम्बन्ध में मैं गीता का उल्लेख नहीं कर रहा, यद्यपि यह प्रसंग हमें उसमें भी मिलता है।

और एक बार यह स्वीकार कर लेने पर कि इस विकास के पीछे कोई शक्ति है, मैं नहीं समझता, हम आस्था का परित्याग क्यों करें। आखिर आज की दुनिया में समस्या के हल में आस्था भी कम-से-कम उतनी ही शक्तिशाली है, जितना ज्ञान। लार्ड टेनिसन ने 'इन मेमोरियम' नाम की कविता में कहा है :

"जहां हम सिद्ध नहीं कर सकते वहां
आस्था से, केवल आस्था से ही, विश्वास
का वरण करो।"

पुराणों में हिरण्यकशिपु की एक कथा है। उसने ईश्वर की पूजा रोक दी और जनता ने हिरण्यकशिपु की पूजा शुरू कर दी; किन्तु उसके अपने ही पुत्र प्रह्लाद की ईश्वर में अधिक आस्था थी। एक दिन क्रोध में हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद से पूछा कि बता, तेरा ईश्वर कहां है ? प्रह्लाद ने एक बड़े खम्भे की ओर उंगली उठाकर कहा कि ईश्वर उस खम्भे में भी है, जैसा

---

१. ओलिवियर कांस्ता द ब्योरेगार, 'द सेकिंड प्रिन्सीपिल आफ साइन्स आफ टाइम' पुस्तक से.

कि वह सब जगह है। हिरण्यकशिपु ने खम्भे पर प्रहार किया और प्रकट हुआ एक स्वरूप, जो आधा नर था और आधा सिंह। नृसिंह ने हिरण्यकशिपु को मार डाला।

आधुनिक युग के लोग इस प्रकार की कहानी पर हँस सकते हैं तथापि आज भी आस्था को खत्म कर देने पर हम जीवन में बहुत-कुछ खो देंगे।

भगवान् कृष्ण ने अपना विराट स्वरूप प्रकट करते हुए 'गीता' में कहा है :

"इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।"

—हे गुडाकेश अर्जुन! अब इस मेरे शरीर में एक जगह स्थित हुए चराचर-सहित सम्पूर्ण जगत् को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है, सो देख।

प्राचीन काल में धार्मिक व्यवहार और विचार की सबसे बड़ी सुन्दरता इस बात में थी कि उसने नये विचारों को सहज ग्रहण किया। वेदों का प्रारम्भ ही नये मन्त्रों के उच्चारण से होता है। आधुनिक युग में धर्म के इस परिणाम को टालने के लिए सर जुलियन हक्सले[1] ने नये शब्दों में विकास के आधार पर धर्म के पुनर्निर्माण की वकालत की है। उनका विश्वास है कि 'विकासशील मानववाद' की उनकी स्थापना नये धर्म का मूल बनने में सक्षम है। यह आवश्यक नहीं कि वह वर्तमान धर्मों का स्थान ग्रहण करे, वरन् उनकी पूरक होगी। अभी यह देखना है कि इस मूल का विकास किस प्रकार हो सकता है। उसकी

---

१. सर जुलियन हक्सले, 'द लिस्नर', २२ नवम्बर, १९५१.

बौद्धिक रूपरेखा तैयार करना उसके विचारों को प्रेरणाप्रद बनाने का प्रयत्न करना, उसका व्यापक प्रसार करना, सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि तथ्यों से विचारों का औचित्य सिद्ध किया जाय, निराशा के क्षेत्र खोजे जायं और बताया जाय कि वे कहां कम हो रहे हैं, यह दरसाया जाय कि मानवीय संभावनाओं की खोज से उनकी पूर्ति के लिए किस प्रकार नये प्रोत्साहन मिल रहे हैं, साथ ही, उनकी पूर्ति के लिए साधनों का प्रदर्शन किया जाय।

कतिपय बड़े-बड़े वैज्ञानिकों में ईश्वर के प्रति गहरा प्रेम क्यों होता है ? इसका एक अच्छा कारण आर० बी० कइल ने 'मनोविज्ञान और धार्मिक जिज्ञासा' में दिया है, "हो सकता है कि विज्ञान की दुनिया द्वारा पहुंचाये गए आघातों और मानव द्वारा व्यावहारिक विज्ञान के समझदारी से उपयोग की बजाय आवेशात्मक उपयोग से कुछ का ध्यान मानवता की ओर आकृष्ट हुआ है।" इससे हमको एक अत्यन्त उल्लेखनीय वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स के ईश्वर-प्रेम को समझने का सुराग मिलता है। उसने यथार्थ के साथ मन के तादात्म्य का पता लगाया। उसका सन्देश प्रेरणादायक शब्दों में :

"ज्ञानधारा अयांत्रिक यथार्थ की ओर अग्रसर हो रही है, सृष्टि एक बड़ी मशीन की बजाय एक महान् विचार की भांति अधिक दिखाई देने लगी है। अब मन भौतिक क्षेत्र में अकस्मात् घुस आनेवाला जैसा दिखाई नहीं देता।" विश्व के दैवी-सार की अनुभूति ने सर जेम्स को ईश्वरीय सृष्टि में उसका स्पर्श अनुभव करने के लिए आकर्षित किया।

जो दैवी है वह स्थायी यथार्थ है और आधुनिक मानव के

मन की पीड़ाओं का, उसकी दुखी आत्मा का, उपचार केवल धर्म के सही पुनरुज्जीवन में है, जिससे विज्ञान मधुर बनता है और वासनाओं का शमन होता है।

आज राज्य भी मानव को 'नागरिक' बनाकर उसके मानव के व्यक्तित्व को सीमित करता है। कम्युनिस्ट राज्य इसे अधिक उत्साह से करता है, लोकतन्त्री राज्य आधे मन से, भले ही उसका जो भी लाभ या हानि हो, उसे ईश्वर से सम्बन्ध तोड़ने को तो बाध्य किया ही जाता है।

शायद कोई चारा भी नहीं है। कहा जाता है, कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते हैं और कुछ शासित होने के लिए। फिर भी युगों पहले एक समय ऐसा था, जब राज्य का निर्माण समाज के कल्याण के लिए किया गया और अरस्तू के शब्दों में राजनीति 'उत्कृष्ट कर्मों' का स्रोत थी। पर आज उसका रूप ही कुछ और हो गया है। राष्ट्रीय सत्ता का कुछ औचित्य है, किन्तु होता ऐसा है कि राष्ट्रीय सत्ता जब स्वयं में साध्य बन जाती है तो उसकी प्राप्ति के लिए आर्थिक कल्याण की प्रायः बलि दे दी जाती है। इससे भी बुरा होता है जबकि राजनैतिक सूक्ष्मता की प्रक्रिया से राष्ट्रीय सत्ता बहुत सफाई के साथ कुछ व्यक्तियों की सत्ता तक सीमित हो जाती है।

यदि विश्व रंगमंच है, तो मानव उसका नायक है। मानव ने इस विश्व का, इस तारों-जटित ब्रह्माण्ड का निर्माण नहीं किया है; किन्तु इस रहस्यपूर्ण दुनिया का वह जैसा उपयोग करता है, उससे उसकी अभिनय-कला सिद्ध होती है। इसी प्रकार, उसका मन एक मशीन है, जो उसके आदि-स्रष्टा ने उसे प्रदान की है। उसका श्रेय इस बात में है कि वह इस उपस्रष्टा से, यदि

हम यह संज्ञा दे सकें तो, कितना अच्छा काम लेता है। बाह्य प्रकृति रंगमंच प्रदान करती है और उसके अपने अन्दर की प्रकृति उसके अभिनय की शैली को निर्धारित करती है।

उसके आसपास फूलों और रंगों, प्रकाश और छाया, पर्वतों और महासागरों, वनों और नदियों की दुनिया और ऊपर तारों से जगमगाता आकाश उसके मन को जगाते हैं, जबकि प्रकृति की पहेलियां, चांचल्य और आतंक उसकी प्रतिभा को चुनौती देते हैं।

वेदों में एक मन्त्र है—कितना सरल और कितना अनूठा, जो मानव और उसके स्रष्टा में सम्बन्ध के मूल्य को स्पष्ट करता है। इस मन्त्र का नाम 'गायत्री' है, इसमें कहा गया है : ओ३म् (मैं शपथपूर्वक कहता हूं) भूर्भुव: स्व (पृथ्वी मध्य अन्तरिक्ष और उससे आगे तीनों लोक) तत् सवितुर् (इन सबका स्रष्टा) वरेण्यम् (पूजनीय) भर्गो देवस्य (इन शक्तियों का देवता) धीमहि (हम उसका ध्यान करते हैं) धियो यो न: प्रचोदयात् (हमें जो मानसिक शक्ति प्रदान करे उसके साथ) ओ३म् (मैं शपथपूर्वक कहता हूं।)

ईश्वर ने हमें जो विचारशक्ति प्रदान की है, उसके लिए उसका चिन्तन करना, उससे तादात्म्य अनुभव करने, अपनी आत्मा में उसका स्पर्श अनुभव करने का एक अच्छा उपाय है।

मानव की शान्ति और प्रगति की आशा इस बात पर निर्भर है कि राजनीति अपना अध्यात्मीकरण स्वीकार करे; किन्तु इस समय सारा सम्मान अक्ल को दिया जा रहा है, जबकि अक्ल विनाश में प्रसन्नता अनुभव करती है। मधुरता और प्रकाश के लिए सृष्टि-रचना का नियम एक बार फिर लागू होना चाहिए।

उस दशा में हमारा विचार एक बार फिर ईश्वर की ओर, स्रष्टा की ओर, मुड़ना चाहिए और उस तक पहुंचने का विज्ञान धर्म है। सम्भवतः परिवर्तन-चक्र का समय आ पहुंचा है और शायद सिद्धों, सन्तों और ऋषि-मुनियों का युग फिर लौटकर मानव की आन्तरिक शक्ति को प्रकट करे। ○

१४ / करहु सोइ जो तुम्हहिं सुहाई"

रामचरितमानस की रचना चार सौ साल पुरानी हो गई। तुलसीदास उस युग में हुए थे, जब संस्कृत के सिवा भाषा के ग्रंथ लिखने का प्राय: साहस ही नहीं किया जाता था। आम लोग संस्कृत नहीं समझते थे, इसलिए पढ़ने वाले कुछ लोगों तक ही सीमित थे। संस्कृत के पंडित होते हुए भी तुलसीदास ने जन-साधारण को राम की कथा सुनाने के लिए भाषा में लिख कर जान-बूझकर खतरा मोल लिया था। संस्कृत के पंडितों ने उन्हें बुरा-भला कहा, उनकी निन्दा की। किन्तु सामान्य जनता में रामचरितमानस इतना अधिक लोकप्रिय होने लगा कि पंडितों को बाध्यत: अपना मत बदलना पड़ा। उन्होंने घोषणा की :

"आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्तरू: ।
कविता मंजरी यस्य् रामभ्रमरभूषिता ॥"

कालांतर में गोस्वामी श्रीमन्नारायणाचार्य ने मानस का संस्कृत में बड़ा सुन्दर अनुवाद किया।

यह अलौकिक रचना इतने वर्षों बाद भी आज कहीं अधिक लोकप्रिय बन गयी है। रामचरितरूपी मानसरोवर में पढ़े और अनपढ़े सभी सहर्ष गोता लगाते हैं, और जिसकी मुट्ठी में जितने रत्न आते हैं, वह निकाल लाता है।

मानस बड़ा ही अगाध है, उसके तल का एक-एक कण अन-मोल मणि है। उसे निरखने और समझने के लिए गहरा उतरना

पड़ता है, पर यह नहीं कि किनारे बैठा हुआ कोई कोरा ही रह जाय। उसे भी कुछ-न-कुछ तो मिल ही जाता है।

बाल्यकाल की लीला के बाद ही, वास्तव में, कथा राम के वनवास से शुरू होती है। यों सारी ही कथा ज्ञान और भक्ति-रस से परिपूर्ण है, किन्तु अयोध्याकाण्ड का प्रमुख भाग पितृ-आज्ञा का पालन करना है।

महाराजा दशरथ ने गुरु वसिष्ठ से सलाह करके राम के राज्याभिषेक का निश्चय किया। यह समाचार फैलते ही अयोध्या-भर में बधावे बजने लगे। जहां-तहां स्त्रियां मंगल गीत गाने लगीं। तुलसीदासजी लिखते हैं, "कोयल की-सी मीठी वाणी-वाली, चन्द्रमा के समान मुखवाली और हरिण के बच्चे के-से नेत्रवाली स्त्रियां मंगलगान करने लगीं।" वसिष्ठजी ने आज्ञा दी, "नगर में अनेक सुन्दर मंडप सजाओ, फलों समेत आम, सुपारी और केले के वृक्ष नगर की गलियों में चारों ओर रोप दो। मनोहर मणियों के चौक पुरवाओ और बाजार को खूब सजाओ।"

अयोध्या में यह महोत्सव हो ही रहा था कि आनन्द में विभोर राजा दशरथ ने कैकेयी के महल में जाकर सुना कि वह तो कोप-भवन में हैं। वे सहम गये। डरते-डरते कैकेयी के पास पहुंचे। बहुत मनाया, पर हठीली रानी ने राम की शपथ दिला-कर दो वर मांग लिये, एक तो भरत को राज, दूसरे राम को चौदह वर्ष का वनवास!

राम ने पिता की आज्ञा का पालन किया। माता कैकेयी से बोले :

"सुन जननी सोइ सुत बड़भागी।
जो पितु-मातु वचन-अनुरागी ॥"

और माता कौशल्या से विदा मांगते हुए कहा :
"पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।" अयोध्या केनागरिक बड़े क्षुब्ध और रुष्ट थे :

"मिलेहि मांझ बिधि बात बिगारी,
जहं तहं देहिं कैकइहि गारी।"

सीता और लक्ष्मण के साथ श्रीराम वन को विदा हुए। मंत्री सुमंत्र उन्हें गंगा तक छोड़कर जब लौटे तो तुलसीदास कहते हैं कि राम को लौटा न देखकर सारा रनिवास व्याकुल हो गया। राजमहल उनको ऐसा भयानक लगा, मानो प्रेतों का निवास-स्थान हो।

प्रश्न अब यह उठता है कि सारी प्रजा, माताओं, मंत्रियों और यहां तक कि राजा दशरथ को भी, जिन्होंने अन्त में प्राण ही छोड़ दिये, त्यागकर एक कैकेयी के प्रति वचनबद्ध राजा की आज्ञा मानना राम को उचित था क्या ?

उधर, भरत ननिहाल में थे। जब लौटे तो देखा, कौए बुरी तरह कांव-कांव कर रहे हैं। गधे और सियार विपरीत बोल रहे हैं। चारों ओर भयानक सन्नाटा। विक्षुब्ध लोग घरों में बैठे रहे, उनकी अगवानी करने नहीं गए। भरत माता कैकेयी के पास गए और सबका कुशल-क्षेम पूछा। पिता का मरण और राम का वनवास सुनकर सन्न रह गए वे। माता कौशल्या ने भरत से कहा, "बेटा काल और कर्म की गति अमिट है।" वसिष्ठजी ने आकर कहा, "राय राज-पद तुम्ह कहं दीना," माता कौशल्या ने भी समझाया, "पूत पथ्य गुरु आयसु अहई !" मंत्रियों

ने विनती की—"कीजिअ गुरु-आयसु अवसि।"

भरत ने प्रजा की तरफ देखा, पर सब चुप थे। भरत का स्वयं का मन भी शोक-युक्त था। बोले, "पितु सुरपुर सिय राम बन, करन कहहु मोहि राजु !" "मोहि राज हठि देइहहु जवहीं, रसा रसातल जाइहि तबहीं।" मुझे तो श्रीराम के पास जाने की आज्ञा दीजिए।

भरत श्रीराम के पास चित्रकूट गये और उनकी खड़ाऊं लेकर लौट आये। खड़ाऊं राज-सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर उनकी ओर से राज बड़ी अच्छी तरह चलाया। कैकेयी ने भरत के लिए राज मांगा था। भरत ने चौदह वर्ष राज तो किया, पर श्रीराम के एक प्रतिनिधि के रूप में।

ऐसे संघर्ष प्रत्येक मनुष्य के जीवन में आते ही रहते हैं। बड़ों की आज्ञा मानना उचित है या अनुचित ! राम ने भी आज्ञा मानी और भरत ने भी आज्ञा मानी, और प्रतिनिधि के रूप में राज भी चलाया।

राम ने आगे चलकर एक प्रसंग पर कहा था :

"सुनहु सकल पुरजन मम बानी,
कहउं न कछु ममता उर आनी।
नहिं अनीति, नहिं कछु प्रभुताई,
सुनहु करहु जो तुम्हहिं सोहाई॥"

—प्रभुताई के भय से मेरी कोई बात आप लोग स्वीकार न करें। कहीं भी अनीति की आशंका हो, तो वह बात ग्रहण न करें। सोचकर, विचारकर, जो मन में ठीक जंचे, वही करें।

प्राणी को मिली प्रज्ञा, और इस प्रकार हुआ मनुष्य का निर्माण। उसने नये इतिहास का सृजन आरंभ किया। उसके

पास मस्तिष्क था। उसके माध्यम से भगवान द्वारा सर्जित जीवों के बीच अपने ढंग से मनुष्य भी नव-सृजनकर्ता बना। उस की गरिमा का मापदंड उसकी वैचारिक विशिष्टता है।

वह अपने विचारों, आदर्शों, यथार्थों और प्रतीकों का अपना संसार बनाता है। उसकी कला और उसके शिल्प उसकी बुद्धि की देन को प्रतिबिंबित करते हैं। इस अर्थ में वह सृष्टिकर्ता की प्रतिमूर्ति स्वरूप है।

कोई भी उचित निर्णय लेने के लिए विचारों का समुचित उपयोग आवश्यक है, विशेष तौर से व्यस्त लोग सदा ही किसी चीज को ठीक से न सोचने का कुछ-न-कुछ बहाना करते हैं। पश्चिमी साहित्य भी, हम देखें तो डिकेन्स ने अपनी 'ब्लीक हाउस' पुस्तक में उनका परिहास करते हुए कहा है, "सोचो, मुझे बिना सोचे हुए बहुत-कुछ करना है, जबकि प्रतिदान में उससे बहुत कम उपलब्धि होती है।" सभी कार्यों में विशेष रूप से दो पहलू होते हैं। चिंतन में खो जाना या विचार खोने की स्थिति में होना बुरा है। बहुधा यह कष्टप्रद भी है, किंतु विचार करने से भागना स्पष्ट रूप से मनुष्य के अपेक्षित गुणों को अस्वीकार करना है। शेक्सपीयर ने इन दोनों पहलुओं पर विचार किया है, "वह बहुत सोचता है···ऐसे व्यक्ति खतरनाक होते हैं।"

(जूलियस सीजर)

जूलियस सीजर का तानाशाही राज्य था, और तानाशाह को स्वतन्त्र विचार से चिढ़ होती है। दूसरी तरफ 'ओथेलो' में उलटी बात है," मैं कुछ भी नहीं हूँ, यदि मुझमें आलोचनात्मक प्रवृत्ति नहीं है।"

बहुधा सभी विपत्तियां, जैसा कहा जाता है, खतरनाक नहीं

होती हैं। कुछ विपत्तियां स्वागत करने योग्य होती हैं, क्योंकि वे मनुष्य की परीक्षा लेती हैं। मनुष्य ऐसी विपत्तियों का सामना करता है, जिनसे या तो समाज का कल्याण होता है या समाज के कल्याण की संभावना होती है। कभी-कभी उच्च विचारों का पूरा मूल्य चुकाना होता है, और ये मूल्य उन विचारों की उच्चता आंकते हैं। इसके साथ ही, मानव-जाति का कल्याण करने के पश्चात् यह सदा के लिए उसकी प्रकृति बन जाती है। वर्डस्वर्थ ने कहा है, "छोटी सेवाएं' वास्तविक सेवाएं, हैं, यदि वे टिकाऊ हों।" वे लोग भी सेवाव्रती हैं, जो चिंतन करते हैं या चिंतन का प्रसार करते हैं। यद्यपि शारीरिक कार्य नहीं करते, तथापि कार्य के लिए सही दिशा और प्रेरणा प्रदान करते हैं। मानसिक कार्य ही आधारभूत कार्य है।

किंतु चिंतन चाहे कितने ही अच्छे ढंग का हो, उसमें सारी बातों का समावेश नहीं हो सकता। इसीलिए उसकी संपूर्ति करती पड़ती है। इस तरह मति-भ्रम और विचार-द्वंद्व पैदा होते हैं। लेकिन चिंतन की अपूर्णता मात्र विचारक का दोष नहीं है। विचारों में ऐसी प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से होती है। जहां तक सृजन का प्रश्न है, कोई भी सृजन अपने-आपमें पूर्ण नहीं होता, क्योंकि कुछ भी सरल नहीं है। इसके अतिरिक्त, मौलिक विचारक किसी के आदेश से स्वीकृत पुरानी लीक पर नहीं चल सकता। इस समय एक बड़ा प्रश्न उपस्थित होता है। सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में सत्ता-सम्पन्न लोग चिंतन के लिए पर्याप्त अवसर नहीं देते। येन-केन-प्रकारेण विविध प्रतिबंध रख देते हैं। वे एक निश्चित लीक पर चलने के लिए सुझाव देते हैं, या दबाव डालते हैं। क्रांतिकारी और वास्तविक विचारक ऐसी मांगों

की पूर्ति करने में असमर्थ होते हैं। उनका अपना दृष्टिकोण तथा अपनी एक अभिलाषा होती है, और इस तरह वर्तमान तथा भावी जनमत द्वारा अपना मूल्यांकन और प्रतिदान चाहते हैं। जिनके हाथ में शक्ति है, उनसे वे कुछ लेकर अपने विचारों को बेचना नहीं चाहते। इस प्रकार विचारों में सदैव एक द्वन्द्व बना रहता है, और यह द्वन्द्व विभिन्न मतों, सिद्धांतों और परिप्रेक्ष्यों में होता है।

आज मनुष्य के 'स्वयं' को अपने तक ही सीमित रखना एक कष्टसाध्य परीक्षण है। वर्तमान समय ने जीवन को निश्चित आदर्शों और संस्थाओं में सीमाबद्ध कर दिया है। यह बात नहीं कि प्राचीनकाल में विचार-स्वातंत्र्य पर आक्षेप नहीं होता था। संभवतः वह मानव-स्वभाव के अनुकूल था, किंतु वह आज की तरह जटिल बन्धनों में नहीं बांधा गया था।

प्रत्येक काल, जलवायु, देश और मानव-हृदय में यह बात आती है कि जीव जन्म लेता है और उसे पार्थिव मृत्यु का भय अवश्य रहता है। यह भयंकर स्थिति प्रत्येक मनुष्य अच्छी तरह समझता है, जब आत्मा किसी राजनैतिक दंड-विधान के समक्ष नहीं झुकती। यह निर्णय मनुष्य का विद्रोही व्यक्तित्व स्वयं लेता है, और वह इस बात को स्वीकार नहीं करता कि किसी के दबाववश वह अपनी जिह्वा पर प्रतिबन्ध लगाये, किंतु कभी-कभी अरुचिकर समझौते की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परीक्षण के अन्तिम क्षणों में भी आत्म-विश्वासी आलोचक कभी नहीं झुकता। संतुलित विचारक सुविधाओं के व्यसन को अपने पास नहीं फटकने देता।

इमर्सन का कहना है कि जब ईश्वर एक दार्शनिक को इस

भूतल पर उतारता है, तो मानव को सतर्कता की आवश्यकता होती है। ये विचार भारतीय विचारधाराओं तथा परंपराओं के विशेष समीप हैं। प्राचीन भारत का सम्पूर्ण आध्यात्मिक वाङ्-मय ज्ञान को प्रयोग की कसौटी पर कसने पर बल देता है और पहले से चली आनेवाली बातों को यथार्थतः स्वीकार नहीं करता। वेद और उपनिषद् स्वतंत्र चिंतन को प्रोत्साहन देते हैं। यह बात और है कि वे भी मान्यताओं की बात करते हैं, और यह प्रत्येक युग के लिए अपरिहार्य है। लेकिन सामान्य दृष्टि-कोण यह है कि 'विचार स्वातन्त्र्य है'।

प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली अनुसंधानों द्वारा सत्य के उद्घाटन के पक्ष में थी। इसीलिए प्रश्न के लिए 'जिज्ञासा' शब्द प्रचलित था। शिक्षक छात्रों को जिज्ञासा करने तथा प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित कर उनके संदेहों का समाधान करते थे। दार्शनिक साहित्य वस्तुतः निर्भीक जिज्ञासा पर आधारित था। इन दार्शनिक ग्रन्थों में वेदों की प्रामाणिकता पर भी प्रश्न-वाचक चिह्न लगा दिये गए हैं, यहां तक कि ईश्वर के अस्तित्व में भी कभी-कभी अनास्था प्रकट की गयी है। इन सत्यों को चुनौती देकर ही विश्व को अग्रगति मिली है। भगवान बुद्ध भी निर्भीक आलोचना द्वारा ज्ञानोपलब्धि के पक्ष में थे। उन्होंने अपने शिष्यों को स्वयं सोचने के लिए प्रेरित किया और किसी भी वस्तु को सत्य की कसौटी पर कसे बिना स्वीकार करने से मना कर दिया।

"कोई भी विचार केवल इसलिए स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह हमारे ग्रन्थों में वर्णित या सर्वमान्य है। इस आधार पर भी उसे नहीं मान लेना चाहिए कि वह हमारे गुरुओं

का वचन है।" यदि भारतीय गणतन्त्र को सुरक्षित रखना है, तो पूर्वोक्त दृष्टिकोण का उपयोग वर्तमान युग तथा गणतांत्रिक परिवेश में विशेष महत्त्व रखता है। गोस्वामीजी ने 'कवितावली' के उत्तरकांड में लिखा है :

"गारी देत नीच हरिचंदहू दधीचिहू को,
आपने चना चबाइ हाथ चाटियतु है।
आप महापातकी, हंसत हरि-हरहू को,
आपु है अभागी, भूरभागी डाटियतु है।
कलि को कलुष मन मलिन किए महत,
मसक की पांसुरी पयोधि पाटियतु है॥"

अर्थात्, स्वयं भाग्यहीन होकर भी वह भाग्यशालियों को लांछित करता है। वह हरिश्चन्द और दधीचि-जैसे महादानियों को भी गाली देता है, जबकि स्वयं अपने चने खुद ही चबा जाता है—एक दाना भी किसी को देना नहीं चाहता। कलियुग के कलुष ने मन को पूरी तरह मलिन कर दिया है। मच्छर की पसलियों के भरोसे सागर को पार करने का दुस्साहस करता है।

राज्य और व्यक्ति के बीच की स्पर्धा अत्यन्त असन्तुलित तथा असमान है, फिर आत्मा की शक्ति को कम करना न्याय-संगत प्रतीत नहीं होता है। यह सत्य है कि सांसारिक आकर्षण सर्वत्र बिखरे पड़े हैं, और मानव की दुर्बलताएं समझौता करने के लिए बाध्य होती हैं। जो व्यक्ति भूल न करें या आत्म-हनन न करें, वे बहुत कम हैं, किन्तु हैं कुछ अवश्य। ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ाना आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह तभी सम्भव है, जबकि लोग अपने विचारों के प्रति ईमानदार

हों। ऐसे गम्भीर और सन्तुलित विचारों की सृजनात्मक भूमिका वृहदारण्यक उपनिषद् में दी गयी है।

सनतकुमार उपदेश देते हैं, "पृथ्वी, वायुमंडल, आकाश, जल, पहाड़, देवता तथा मनुष्य सभी अपने ढंग से ध्यानावस्थित होते हैं। मनुष्यों में जिस किसी ने भी महत्ता प्राप्त की है, उसने इसे अपनी ध्यानमग्नता के पुरस्कारस्वरूप प्राप्त किया है। ध्यानावस्था की प्रतिष्ठा करो।" स्पष्ट है कि मनुष्य जब सोचता है, तभी समझता है। विना चिंतन किये मनुष्य समझ नहीं सकता। किसी वस्तु के समझने के मूल में चिंतन ही है, किन्तु मनुष्य के अंदर विचारों को समझने की इच्छा जाग्रत होनी चाहिए।

दूसरों के विचारों का जब हम आदर करते हैं, तब अपने विचारों को भी समादृत करते हैं। रामचरितमानस की शिक्षा भारत की एक अमर शिक्षा है। यदि भारत को प्रतिष्ठित और गौरवमय जीवन बिताना है, तो इसे सर्वोच्च शिक्षा के रूप में मानना होगा तथा इसे श्रद्धापूर्वक हृदयंगम करना होगा।

राम और भरत दोनों ने ही पिता की आज्ञा का पालन किया, किंतु बिना सोचे-समझे नहीं। पूरे विचार के बाद राम ने तय किया कि जिस सद्‌द्देश्य को, जिस आदर्श को, उन्होंने जन्म-भर निभाया, उसके लिए उनका वन जाना जरूरी था। माता कौशल्या को उन्होंने बताया :

"पिता दीन्ह मोहि कानन राजू,
जहं सब भांति मोर बड़ काजू।"

यह तो प्रकट ही है कि उन्होंने महान स्वार्थ-त्याग किया।

भरत ने भी पितृ-आज्ञा का पालन किया, थोड़े से हेर-फेर

के साथ। भरत ने रामजी से बहुत विनती की कि वे अयोध्या लौटें और बोले :

"सब समेत पुर धारिअ पाऊं, आपु यहां अमरावति राऊं।"

भरतजी का बुरा हाल था :

"निसि न नींद नहिं भूख दिन, भरत विकल सुचि सोच।"

रामजी ने सबकुछ भरतजी पर ही छोड़ दिया। सारा भार अपने ही ऊपर समझकर भरतजी कुछ कह नहीं सके। अंत में बोले :

"अब कृपाल जस आयसु होई, करौं सीस धरि सादर सोई ॥
सो अवलंब देव मोहि देई, अवधि पारु पावौं जेहि सेई ॥"

रामजी ने खड़ाऊं दे दीं और भरतजी ने बड़े प्रेम से उन्हें सिर माथे पर लगाया। यह प्रतीयमान है कि राम के वन जाने पर अयोध्या राज-विहीन हो जाती। वहां के नर-नारियों का दुःख और शोक से त्राण हुआ तथा राम के राज्य में कोई उत्पात न हो, इस आदर्श को लेकर भरत ने प्रतिनिधि के रूप में राज चलाया। भरत का स्वार्थ-त्याग कितना महान था कि मिले हुए राज्य को तृणवत छोड़ा। ○

१५ / मूक बहुमति

प्रगति के साथ-साथ जीवन को नये आदर्श और नये उपादान प्राप्त होते हैं। समाज के आगे बढ़ते कदमों से तालमेल बनाये रखने के लिए मानवीय सुख-सम्बन्धी धारणाओं में समय-समय पर संशोधन, परिवर्तन और नवीकरण करना पड़ता है। उनका पुनराख्यान, पुनर्लेखन और पुनर्पुष्टीकरण आवश्यक हो जाता है।

मानवीय नाटक का नायक है मनुष्य। उसी को लेकर सामान्य जन का आधार तैयार होता है। 'लोक' या 'जनता' शब्द को आज एक राजनैतिक अर्थ प्राप्त हो गया है, परन्तु एक लम्बे समय तक सामान्य जन का नेतृत्व ऋषियों, पैगम्बरों और सरस्वती के वरद पुत्रों के द्वारा होता रहा। उसके आदि नेता थे—या तो कोई बुद्ध या कोई क्राइस्ट, या कोई जरथुस्त्र या कोई कन्फ्यूशियस।

आधुनिक काल में लोक और राजनीति का सम्बन्ध आपस में जुड़ गया और लोकतंत्र आधुनिक युद्धघोष बन गया। कालान्तर में जब उसकी आत्मा छीज गयी और उसकी देह-देह बाकी रही, तब उसको समाजवाद ने चुनौती दी। लेकिन समाजवाद में भी जल्दी ही गिरावट आ गई और वह कुछ ऐसे आदमियों के द्वारा सत्ता हथियाने का हथकण्डा बन गया, जो जन-सामान्य की भलाई के नाम पर शोर मचाते रहते थे।

शीर्षस्थ नेताओं के सत्ता-रूपी देवरथ के पहियों के नीचे सामान्य जन को कुचल डाला गया और लाखों की संख्या में उसने दम़ तोड़ दिया। सोवियत रूस में जिस तानाशाही गुट ने समाजवादी क्रान्ति का प्रयोग किया, उसने लाखों सामान्य और छोटे तबके के लोगों को मौत के घाट उतार दिया और इस तरह आलोचकों तथा शंकास्पद व्यक्तियों की एक लम्बी सूची का खात्मा कर दिया गया। निरीह जनता के निमित्त नये और सुन्दर जीवन की योजना अभी तक एक खर्चीली मृग-मरीचिका ही बनी हुई है। दुर्भाग्य से, विज्ञान को भी विध्वंस का खेल खेलने में नियोजित कर दिया गया है। इसने हालत को बदतर बना दिया है।

सीधे-सादे प्राचीन काल में, जबकि जिन्दगी में दिखावट और बनावट कम-से-कम थी, सुख की खोज—जो कल्याण मात्र नहीं; उससे कुछ विशेष है—साधु-सन्तों का कोमल उत्तरदायित्व था। उपनिषदों का 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' सन्देश लोक की हृद्तन्त्री का सबसे मुखर स्वर बन गया था। हमारे देश में युगों तक, और बहुत हाल तक, जन-साधारण मूक था, अपनी आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को स्पष्ट अभिव्यक्ति देने में असमर्थ था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि प्राथमिक आवश्यकता यह है कि मूक जनता को उसकी अपनी एक वाणी दी जाय। निस्सन्देह, गांधीजी ने भारत की मूक जनता को वह वाणी दी और सामान्य जन को उन्होंने सार्वजनिक मंच पर ला खड़ा किया। यह चीज कहीं सन् १९२० में जाकर हो पायी।

गांधीजी राम के आराधक थे, अतः प्रसंगवश हमारी विचार-धारा जनता के प्रश्न पर रामायण तक पहुंच जाती है।

राम को वनवास मिल चुका है, भरत अपने ननिहाल से अयोध्या आते हैं, राम के वनवास की अवधि में उनसे राज-पद संभालने के लिए कहा जाता है। गुरु वसिष्ठ ने कहा :

"वेद विदित संमत सबही का, जेई पितु देइ सो पावइ टीका।"

यह घटना हमारा ध्यान एक विशेष तथ्य की ओर दिलाती है। भरत सिंहासन पर बैठने से हिचक रहे हैं। गुरु वसिष्ठ नें उनसे कहा कि राम की भी यही इच्छा थी और उनकी इस इच्छा से जनता परिचित है। लोगों ने एक शब्द भी नहीं कहा। वे मूक बने रहे। माता कौशल्या ने भी गुरु का अनुमोदन किया। जनता के मौन को उनकी सहमति मान लिया गया। वह तो—

"सानी सरल रस मातु बानी, सुनि भरत व्याकुल भये।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत, विरह उर अंकुर नये॥"

सरलता के रस में सनी हुई वाणी सुनकर भी भरत व्याकुल हो गये। उनके दिल में यह बात नहीं पैठी, नहीं पैठी। जनता का चेहरा भी उन्हें उत्साह-विहीन दीख पड़ा। उन्होंने कहा :

"जाउं राम पहिं आयसु देहू, एकहिं आंक मोर हित एहू।"

जब इस प्रकार का विधायक सुझाव सामने आया, केवल तभी लोग, जो अभी तक चुप थे, भरत की योजना के समर्थन में चिल्ला उठे :

"अवसि चलिअ बन रामु जहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह।
सोक-सिन्धु बूड़त सबहिं, तुम अवलम्बनु दीन्ह॥"

युगों तक जनता का यही भारतीय मानदण्ड रहा, वह अपने विचारों को अपने मन में ही गोपन किये रखती थी और बहुत कम उनको अभिव्यक्त करती थी—अभिव्यक्त उसी दशा में करती थी, जब कोई जोरदार सुझाव उसके भाव-तल को स्पन्दित कर

देता था।

इसका मतलब यह नहीं कि लोगों की देखभाल नहीं की जाती थी। राजा उनकी देखभाल मित्रवत् से भी अधिक, पितृ-वत् करता था। निरंकुश राजा तक अपने प्रजा-जन का ध्यान रखते थे। संस्कृत में 'प्रजा' शब्द का अर्थ 'सन्तान' है। राज-नैतिक दांव-पेचों के विलक्षण ज्ञाता चाणक्य ने निर्देश किया था, "प्रजा के सुख में ही राजा का सुख निहित है।"

पाश्चात्य देशों में भी जनता सदियों तक पृष्ठभूमि में पड़ी रही। 'मैग्ना कार्टा' (सन् १२१५ में इंग्लैंड के राजा जॉन द्वारा प्रदत्त महाधिकारपत्र) को जनता ने नहीं तैयार किया था, बल्कि सन्तों (बैरन्स) ने किया था। पहली बार—और केवल एक बार—फ्रांसीसी क्रान्ति के समय जनता को प्रकाश में आने का अवसर मिला, उसके बाद फिर किसी ने उसे नहीं पूछा, वह मंच से गायब हो गयी। सोवियत क्रान्ति के समय फिर राजनीतिज्ञों ने जनता की बढ़-बढ़कर दुहाई दी, लेकिन वहां भी जनता की आवाज महज निष्क्रिय आवाज बनकर रह गयी।

फिर भी, लोगों ने हल्ला-गुल्ला मचाना शुरू कर दिया, लेकिन राजनीतिज्ञों की मदद से या उनके प्रेम से नहीं। असल में, आबादी में होनेवाली बेहद बढ़ती ने यह इनकलाब ला दिया। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति (१७८९ ई०) और रूसी क्रान्ति (१९१७ ई०) के बीच, या मोटे तौर पर कहें तो अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के बीच पश्चिमी देशों की आबादी लगभग तिगुनी हो गयी। मंच पर सामान्य कहे जानेवाले आदमी की भीड़ मच गयी। फिर हुआ यह कि इसी सामान्य जन या अवाम ने लोकतंत्र की बधिया बैठा दी और उसके स्थान पर

'अतिलोकवाद' (हाइपर-डेमोक्रेसी) की स्थापना कर दी। इस समय तक विज्ञान ने जिलाने और मारने की अधिक शक्ति खोज निकाली थी। उधर, दर्शन-शास्त्र सत्ता के अजीबोगरीब मुहावरे गढ़ता रहा। नीत्शे ने एक स्थल पर पूछा है, "अच्छाई क्या है ?" फिर वह स्वयं उत्तर देता है, "वह सबकुछ, जो सत्ता की भावना में, खुद सत्ता में, वृद्धि करती है।"

'जन-साधारण' या अवाम 'अयोग्य व्यक्ति की प्रभुसत्ता' का, 'गुणरहित व्यक्ति' का पर्याय बन गया। कला, साहित्य, दर्शन, समाजशास्त्र—किसी भी चीज के बारे में इस प्रचण्ड, भीमकाय जन-साधारण का निर्णय अन्तिम माना जाने लगा।[1] कहीं-कहीं कानून के नाम पर भी शासकों का मत जनता पर थोपा जाने लगा, जैसे नाजी राज्य में जर्मनी के शासकों ने तय किया कि यहूदियों का राज्य में रहना घातक है और ६० लाख यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया गया। अब भी रूस में कानून है कि राज्य का छोटा-सा माल भी चुरा लेने पर फांसी की सजा दी जाती है। तो क्या यह माना जाय कि केवल कानून बन जाने से ऐसे कानून मानने योग्य हो गये ? यदि मनुष्य का जीवन इतना सस्ता नहीं है तो क्या मनुष्य की हत्या इतने सस्तेपने से की जा सकती है ?

सभी राजनैतिक पार्टियां, जैसे साम्यवादी, फासिस्ट, समाजवादी और अन्य, उनके बीच के विचारवालों ने, यह सिद्धान्त कि अपने आचरण के लिए मनुष्य स्वयं के प्रति भी उत्तरदायी है—बिल्कुल भुला दिया है, और पुराने समाज, जो

---

१. आरटेगा वाई० गैसेट : दि रिवोल्ट आव दि मासेज।

यद्यपि अपने पुराने नाम तथा सिद्धान्त का ढोल पीट रहे हैं, फिर भी उथल-पुथल में अपने मूल रूप से भिन्न होते जा रहे हैं। नये समाजों में तो ऐसा आचरण बन गया है जो कल्पित संकट-कालीन अवस्था में राज्य संरक्षित सामाजिक दशा के चारों ओर बनता है।

हमारे देश में लहरें टकरा रही हैं। जन-मानस में उत्ताल तरंगें उठ रही हैं; लेकिन अब भी लोग उन्हीं शब्दों को दुहरा रहे हैं, जिन शब्दों को नेताओं ने उनको रटा दिया है। यह तोता रटन्त शायद तब तक चलती रहेगी, जबतक लोग नेताओं की झांसापट्टी को समझ नहीं जाते और उनसे पूरी तरह हताश नहीं हो जाते। जिस दिन उनका यह भ्रम-जाल टूट जायेगा, उसी दिन वे अपनी ओर से अपनी ही वाणी में बोलने लगेंगे। नेता लोग प्रायः जनता के संख्या-बल का प्रयोग अपनी किन्हीं खास राजनैतिक योजनाओं को पूरा करने में करते हैं। जनता का उपयोग वे अक्सर अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए करते रहे हैं।

जैसी कि हालत है, लोग आज भी दिखावटी नायक की पूजा करते हैं। उनकी तड़क-भड़क के आकर्षण में वे खिच जाते हैं। जबकि झूठे देवताओं से मन्दिर का प्रांगण भर गया है, तब सच्चे देवताओं के आगमन का मार्ग अवरुद्ध है। और तो और, जिन लोगों से यह उम्मीद की जाती है कि वे बातों को बारीकी से समझेंगे, वे भी अपने विवेक का परिचय नहीं दे रहे हैं।○

आजकल वैज्ञानिक अन्वेषण का अर्थ प्रायः हो गया है पुरानी अच्छी बातों को भी किसी-न-किसी तर्क से काट देना। कई लोग कहने लगे हैं कि महाभारत हुआ ही नहीं। राम कहां हुए, यह तो कवि की कल्पनामात्र है। राम हुए या नहीं, इस बहस को छोड़कर काव्य की गहराई में जाना चाहिए। 'रामचरितमानस' हिन्दी साहित्य में एक अनूठा ग्रंथ म.ना जाता है। इस ग्रन्थ को अनगिनत लोगों ने पढ़ा है। इसकी मर्मस्पर्शी चौपाइयां करोड़ों लोगों ने दोहराई हैं। लेकिन आजकल ऐसे साहित्य में भी कुछ लोग समीक्षात्मक दृष्टि से अनौचित्य यत्र-तत्र खोजते रहते हैं।

विद्रोही युवकों से बातचीत के प्रसंग में यदि यह पूछा जाय कि ऐसे विचार वे क्यों व्यक्त करते हैं, जो पुराने लोगों को अनुत्तरदायी तथा अनैतिक लगते हैं, तो उनका उत्तर यही होता है, "क्यों नहीं !"

इस "क्यों नहीं" के कम-से-कम दो तात्पर्य हैं :

"मुझे कौन रोक सकता है ?" ही केवल नहीं, साथ में "मुझे कारण बताइये, जो मान्य हो।" नवयुवक की मांग में किसी भी बात को मानने में अहम् के साथ-साथ एक निराशापूर्ण अधीरता होती है।

इसलिए लेखन में अधिक सावधानी की आवश्यकता है,

जिससे नई पीढ़ी के युवक उसके वास्तविक मूल अर्थ को समझ सकें। उदाहरणार्थं नीचे कुछ प्रसंग दिये जाते हैं :

कैकेयी ने दो वर मांग लिये—राम को वनवास दिया जाय और भरत का राजतिलक किया जाय। दशरथ ने राम जैसे पुत्र को वनवास दे दिया। यह कहां तक उचित है ?

कैकेयी की बात सुनकर दशरथ तो सन्न रह गये। उन्हें ऐसी चोट लगी कि उनकी मृत्यु ही हो गयी। उन्होंने अपने मुंह से राम को कुछ नहीं कहा, पर माता कैकेयी की बात सुन-कर राम का उत्तर था :

"सुनु जननी ! सोइ सुत बड़भागी
जो पितु-मातु वचन अनुरागी।
भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू,
विधि सब विधि मोहिं सनमुख आजू ॥"

यह कहकर राम वन को चल दिये।

मानस में विरोधाभास भी बताते हैं।

श्रीराम ने तो माता की आज्ञा का पालन किया, पर भरत-जी जब लौटे तो गुरु ने सब बातें समझाते हुए अन्त में कहा :

"बेद बिदित संमत सबही का।
जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ॥"

माता कौशल्या ने भी भरत से कहा :

"पूत पथ्य गुरु आयसु अहई,
सो आदरिअ करिअ हित मानी
तजिअ विषादु कालगति जानी ॥"

भरतजी ने यह आज्ञा नहीं मानी। इतनी विपरीत बात क्यों ? भरत तो न माने और राम के पास चल दिये।

श्रीराम की खड़ाऊं लाकर उन्हें सिंहासन पर रखकर राम का राज्य चलाया।

इसका समाधान तुलसीदासजी ने किया। जब भरत चित्र-कूटपर श्रीराम से मिले तो श्रीराम ने कहा :

"तात भरत तुम्ह धरम धुरीना।
लोक बेद-बिद प्रेम प्रवीना॥"

पर इतना ही नहीं। गुरु वसिष्ठ ने राजमुकुट पहनने की आज्ञा दी थी, उन्होंने भी अपना मत बदल दिया और बोले :

"समुझब कहब करब तुम जोई।
धरम सारु जग होइहि सोई॥"

इस तरह भरत की आज्ञा-अवहेलना का भी समाधान हो गया।

"बालि-वध का भी अनौचित्य :

"मैं बैरी सुग्रीव पियारा।
कारन कवन नाथ मोहि मारा।"

इसका उत्तर राम ने दिया :

"अनुज वधू, भगिनी, सुत-नारी।
सुनु सठ! कन्या सम ये चारी॥"

फिर भी शंका बनी ही रह जाती है। विभीषण ने भी तो अग्रज-वधू मंदोदरी को रख लिया था। किन्तु तुलसीदासजी नें यहां अनौचित्य को दूर नहीं किया। उनका समाधान तो इसके बाद आता है।

"सुनत राम, अति कोमल बानी,
बालि सीस परसेउ निज पानी॥
अचल करों तनु राखहु प्राना।"

किन्तु बालि ने यह जवाब देकर अनौचित्य दूर कर दिया :

"जनम-जनम मुनि जतन कराहीं।
अंत राम कहि आवत नाहीं ॥"

इस तरह तुलसीदासजी ने अनन्य भक्ति-भावना से प्रेरित होकर ढंग से अनौचित्य को औचित्य में परिणत कर दिया है।

जब हनुमान ने लंका में प्रवेश किया, तब तुलसीदासजी कहते हैं :

"मसक समान रूप कपि धरी।
लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी ॥"

शंका की जाती है कि यदि मसक के समान रूप था, तो 'राम-नाम-अंकित' मुद्रिका वह कैसे ले गये ?

एक बार एक कथावाचक व्यासजी ने मसक का अर्थ लगाया था 'बिल्ली'। हनुमान बिल्ली के जैसा रूप धरकर लंका में गये। हम यह भूल जाते हैं कि तुलसीदासजी का यह ग्रन्थ जब काफी गहराई तक गया है, तो इतनी छोटी-सी बात पर ऐसा अनौचित्य कैसे हो सकता है ? शंकाशील व्यक्ति को 'मसक' का अर्थ 'अविधा' में न लेकर 'लक्षणा' में लेना चाहिए।

यह भी कि हनुमान महिमा, अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों के ज्ञाता थे। जब सुरसा ने अपना बदन बेहद बढ़ाया तो हनुमान ने अपना बदन छोटा कर लिया। हम जब पहाड़ की ऊंचाई से या हवाई विमान से नीचे देखते हैं तो नीचे चलनेवाले चींटों के बराबर दीखते हैं, ज्यादा ऊंचे होने पर तो वे दीखते ही नहीं हैं। यह कह सकते हैं कि नीचे चलनेवाले 'मसक' के समान होकर ही दीखने बन्द हो गये। यही सुरसा के सामने हुआ।

राम-रावण युद्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि रावण जैसा विश्वविजयी, कैलास को कन्धों पर उठानेवाला लोक-विश्रुत योद्धा राम द्वारा आखिर क्यों परास्त हुआ ? तुलसी-दासजी कहते हैं :

"रथ विभंजि, हति केतु पताका।
गर्जा अति अन्तर बल थाका ॥"

रावण का अन्तर-बल क्यों थक गया ?

महाभारत में कथा है कि शल्य पांडवों के बुलाने पर युद्ध में शामिल होने जा रहे थे। रास्ते में दुर्योधन पहुंच गया और उन्हें अपनी तरफ खींच ले गया।

शल्य युधिष्ठिर के मामा थे। युधिष्ठिर उनसे मिलने गये, तो शल्य ने 'विजयी हो' यह आशीर्वाद दिया। युधिष्ठिर ने कहा कि आप तो हमारे प्रतिद्वन्द्वी को सहायता दे रहे हैं, फिर हम विजयी कैसे होंगे।

शल्य ने प्रतिज्ञा की कि वे कर्ण का आत्मबल क्षीण करते रहेंगे और कर्ण के बिना कौरवों की विजय सम्भव नहीं होगी। शल्य ने कर्ण का आत्मबल क्षीण कर दिया। पुराने जमाने में योद्धाओं के साथ चारण उनके बल का बखान करते चलते थे, जिससे वह बढ़ता था। युद्ध जीतने के लिए आत्मबल का बड़ा महत्त्व है।

जर्मन और अंग्रेजों के युद्ध में अंग्रेज शुरू में मार-पर-मार खाते जाते थे, पर उनमें आत्मबल खूब था, इसलिए धीरे-धीरे तैयारी करके अन्त में वे विजयी हुए।

रावण का आत्मबल क्षीण होने के कारण कई थे। कितनी बार तो मंदोदरी ने टोका :

"तुम्हहिं रघुपतिहिं अन्तर कैसा।
खलु खद्योत् दिनकरहिं जैसा ॥"

रावण नहीं समझा। मन्दोदरी ने पुनः समझाया।

"पिय तुम ताहि जितव संग्रामा।
जाके दूत केर यह कामा ॥
रखवारे हति, विपिन उजारा।
देखत तोहिं अच्छ तेहि मारा ॥
जारि सकल पुर, कीन्हसि छारा।
कहां रहा बल गर्ब तुम्हारा ॥"

इस प्रकार अनेक बार मन्दोदरी ने रावण को हतोत्साह किया।

जब राम की सेना समुद्र के उस पार आ गयी, तो विभीषण ने भी रावण को समझाया, "राम मनुष्यों के राजा नहीं हैं, वे तो सकल लोकों के स्वामी, काल के भी काल हैं।"

रावण के एक बुद्धिमान मंत्री माल्यवान ने भी विभीषण का समर्थन किया। रावण ने क्रुद्ध होकर विभीषण को लात जमा दी और पुकारकर सिपाहियों से कहा, "हटाओ इस मूर्ख माल्यवान को।"

विभीषण और माल्यवान का जो हाल हुआ वही रावण के पुत्र प्रहस्त का हुआ। उसने भी पिता को समझाया, पर रावण ने एक न सुनी।

जब रावण के बहुत-से योद्धा मारे गये, तो उसने कुम्भकर्ण को जगाया। कुम्भकर्ण ने उठते ही कहा :

"जगदम्बा हरि जानि अब, सठ चाहत कल्यान।"

"अजहुं तात ! त्यागि अभिमाना ।
भजहु राम होइहि कल्याना ।।"

रावण ने उन सब हितैषियों की बात तो न मानी, पर धीरे-धीरे उसका आत्मबल गिरता गया और अन्त में :

"डोली भूमि गिरत दसकंधर ।
कुपित-सिन्धु-सरि भूधर दिग्गज ।।
धरनि परेउ दोउ खंड बढ़ाई ।
चाँपि भालु मर्कट समुदाई ।।"

यह सब शायद गलत हो। किन्तु जो समाधान दीख पड़े, वह मैंने ऊपर दिये हैं। ऐसे और भी उदाहरण होंगे, हमें उनका पूरा तथ्य समझना चाहिए। युवकों की तर्क-बुद्धि ऐसी-ऐसी शंकाओं के इन समाधानों को ग्रहण करेगी, यह कहना कठिन है; पर अन्वेषण के साथ-साथ तथ्यों की गहराई में जाना चाहिए, यह मेरा निवेदन है।

□□